UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186184
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H398 U65L Accession No. H3221

Author उपाध्याय, चिंतामणि

Title लोकायन 1961

This book should be returned on or before the date last marked below.

लोकायन

हमारे प्रकाशन

रासमाला (गुजरात का इतिहास)—भाग प्रथम
पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में मू० १४)
मूल लेखक—अलेक्जैन्डर किन्लॉक फार्बस
अनुवादक —श्री गोपालनारायण बहुरा एम० ए०
प्राक्कथन —पुरातत्वाचार्य मुनि जिन विजय
भूमिका —डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

विचार के प्रवाह— मू० ५)
लेखक —डॉ० देवराज उपाध्याय
भूमिका—डॉ० विश्वनाथप्रसाद

बचपन के दो दिन— मू० ४–८०
लेखक —डॉ० देवराज उपाध्याय
भूमिका—जयप्रकाश नारायण

साहित्य तथा साहित्यकार— मू० ५–००
लेखक —डॉ० देवराज उपाध्याय

मालवी–एक भाषा–शास्त्रीय अध्ययन— मू० ३–००
लेखक —डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय

फाहियान की भारत यात्रा—भागचन्द्र खाजेड़ १–००

भारत की खाद्य समस्या—भूपाल मेहता ०–४०

आगामी प्रकाशन

आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रासकाव्य—डॉ हरीश

टॉड कृत राजस्थान—प्रथम भाग–प्रथम खण्ड
प्रधान सम्पादक—डॉ० रघुवीरसिंह

रासमाला—भाग द्वितीय

मंगल ग्रन्थमाला संख्या—४

लोकायन

लेखक

डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय

मंगल प्रकाशन

गोविन्द राजियों का रास्ता

जयपुर

प्रकाशक
उमरावसिंह मंगल
संचालक
मंगल प्रकाशन
गोबिन्द राजियों का रास्ता
जयपुर

Checked 1965

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रस्तुत पुस्तक के किसी भी अंश का लेखक की
स्वीकृति के बिना उपयोग करना वर्जित है

पृष्ठ संख्या १९२+१६=२०८

Checked 1969

मूल्य:—४-०० (चार रुपया)

प्रथम संस्करण, मार्च १९६१

कम्पोजिङ्ग व्यवस्थापक:—माधोप्रसाद गोस्वामी
द्वारा मंगल प्रकाशन कम्पोजिङ्ग विभाग

मुद्रण कार्य
सहकारी आर्ट प्रिन्टर्स, जयपुर
एवं
राजस्थान प्रिंटर्स, जयपुर

अर्पण

तरूणाई के प्रखर तेज से उद्दीप्त,

लोकसाहित्य-संकलन के अभियान तथा लोक-जीवन की
खोज में अपने को विसर्जित कर देने वाले दो साथी

स्वर्गीय त्रिभुवननाथ दवे
एवं
स्वर्गीय अम्बराम मुनीम
को

लेखक की ओर से

'लोकायन' में लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति को स्पर्श करने वाले लोक-हृदय के मर्म को समझने की चेष्टा की गई है। सम्पूर्ण भारत में व्याप्त लोक-चेतना के स्पन्दन में ही तो हमारे देश की सभ्यता, संस्कृति एवं आचार-परम्पराएँ भूत और भविष्य की शृंखलाओं को बाँध कर वर्तमान युग का जीवित सत्य बनी हुई हैं। उस सत्य के बहुमुखी स्वरूप की कुछ झाँकियाँ आपको 'लोकायन' में देखने को मिलेगी।

भारत के हृदय-स्थल मालव की लोक-संस्कृति एवं प्राप्त लोक-साहित्य से सम्बन्धित सामग्री के प्रति मेरा अधिक झुकाव होना स्वाभाविक ही है। देश के विभिन्न भू-भागों की तरह यहाँ के धार्मिक व्रत, त्यौहार, एवं अनुष्ठानों से सम्बन्धित लोक-कथाएँ, लोक-पहेलियाँ, बालकों के गीत, विभिन्न संस्कारों के लौकिक आचार, अन्ध-विश्वास एवं सामाजिक रूढ़ियाँ आदि लोक-साहित्य में समान रूप से उद्भावित हुए है। इसलिये कुछ निबन्धों में मालवी जन-जीवन को प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण न कर सका।

अन्त में डॉ० देवराज उपाध्याय का हृदय से आभारी हूं जिनकी साधना, तपस्या और मनीषा से मुझे सदा प्रेरणा मिलती रही है। 'मंगल प्रकाशन' के संचालक भाई उमरावसिंहजी मंगल का भी कृतज्ञ हूं, जिनकी तत्परता एवं ग्रन्थ-प्रकाशन के उत्साह से मुझे अपनी अध्ययन-लेखन की साधना को बल मिलता है।

हिन्दी विभाग,
माधव कॉलेज,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन।

चिन्तामणि उपाध्याय

भूमिका

साहित्य और दर्शन की गगनचुम्बी हिम-श्रेणियों के बीच में 'लोक-साहित्य' एक ऐसा सजल आलोकोज्ज्वल मेघ-खण्ड है जो न तो इनके टूट-टूट कर गिरने वाले शिलाखण्डो से दबता है और न इन श्रेणियों की सीमाओं मे आबद्ध होकर ससीम बनता है, प्रत्युत् गीत, नृत्य एवं वार्ता आदि विविध वर्णा किरणों से स्नात होकर साहित्य की इन उन्नत चोटियों का शृंगार कर आता है और संगीत-लहरी के प्रत्येक स्पन्दन-कम्पन के साथ उड़कर उस विशालता के कोने-कोने को मादकता का सागर प्रस्तुत करता है।

सामान्यतः 'लोक-साहित्य' से अभिप्रेत उन्ही लोगों की अभिव्यक्ति मानी जाती है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है। किन्तु इस साहित्य का तनिक-सा गहन अध्ययन ही इस सामान्य धारणा और दृष्टिकोण की विषमता को भ्रान्त प्रामाणित कर देगा। इसमें कोई सन्देह नही कि 'लोक-साहित्य' लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है, यह व्यक्ति से व्यक्ति के पास वाणी के माध्यम से सतत् प्रवाहमान रहती है "But fundamentally to the folk-lore, their currency must be or have been in the memory of man bequeathed from generation to generation by word of mouth and imitative action rather than by the printed page" (Boggs) तथापि इसमें लोक-जीवन की अभिव्यक्ति जितनी सच्चाई और पूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित होती है उतनी छंद-अलंकार आदि के द्वारा नियमबद्ध संजोई गई भाषा द्वारा

विनिर्मित साहित्य में नहीं। मानवीय सुख-दुख, प्रणय-शृंगार, श्रद्धा-भक्ति, वीररौद्र और भय आदि मनोविकारों की विभिन्न रंगस्नात तूलिकाएँ इस साहित्य का प्रसाधन करती हैं। रीति-रिवाज, व्रत-उत्सव, रहन-सहन, आस्था-विश्वास, धार्मिक और आनुष्ठानिक क्रियाएँ इसके सुपुष्ट तन में ओज और शक्ति का संचार करते हैं। गीत, नृत्य, कथा–आख्यायिकाएँ आदि इसके प्रधान स्रोत हैं। इन्हीं के आलम्बन से यह लोक-मंगल-विधायिनी प्रक्रियाओं को अनवरत् कार्यान्वित कर 'लोक-धर्म' की प्रतिष्ठा करता है।

विश्व के सम्पूर्ण वाङ्मय का प्रधान उत्स 'लोक' है। कल्पनाओ, भावनाओ और कथानकों की उर्वरा भूमि लोक–मानस है। साहित्यिक सूत तो मात्र उनके संरक्षण और प्रचार-प्रसार के साधन जुटाते है— प्रकृति को नागरिकता का जामा पहनाते है। मूलतः ये कृतियाँ अद्‌भुत धारणा शक्ति सम्पन्न, स्वच्छ स्मृति के वरदान से पुरस्कृत पृथ्वी पुत्रों–कथक्कड़ों–के कण्ठ में सुरक्षित रही है। कौन कह सकता है कि संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत और हिन्दी आदि भाषाओं के महाकाव्यों का ठाठ लोक-मानसजन्य कथानकों पर नहीं खड़ा है ? महाभारत तो लोक-कथाओ की अनन्त पिटारी है। इन्हीं विविध कथाओ का आश्रय लेकर कालान्तर में अनेक परिष्कृत साहित्यिक रचनाओं का निर्माण हुआ। शकुन्तलोपाख्यान को कालिदास जैसी अलंकरणप्रिय प्रतिभा का सहारा मिला तो वह 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' बन जगमगा उठा, शिशुपाल-वध की लोक-कथा ही माघ के महाकाव्य शिशुपाल-वध को आश्रय बनी। सच तो यह है कि आदिम मानव ही की आदिम अभिव्यक्ति विश्व की समस्त साहित्यिक कृतियों को अनुप्राणित करती रही है। डॉ० सत्येन्द्र तो वेदों तक को आदिम मानस की अभिव्यक्ति का परिणाम मानते है "भारत के अपौरुषेय वेद भी इसी लोक भूमि पर निर्मित हुए है, और सम्भवतः इसीलिए वे अपौरुषेय भी हैं पुरुष यानि पुरुषार्थ के द्वारा उनकी उद्‌भावना नहीं हुई है, वे सहज उद्‌गार हैं। वे विश्वास उनमें अभिव्यक्त हुए हैं, जो आदिम मानस ने अपने व्यक्तित्व और प्रकृतित्व के संयोग से सहज ही उपार्जित किए और जिन्हें किसी वैज्ञानिक प्रणाली से स्पष्ट नहीं

किया जा सकता।" (मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन पृ० ६२)

सूरदास के अनेक गीत इसी आदिम मानस से अनुप्राणित हैं। उनमें वेद साहित्य का परिष्कार होते हुए भी लोकतत्व अपने मूल रूप में मुखरित है, यथाः—

हो हो हो हो हो हो होरी।
खेलत अति सुख प्रीति प्रकट भई, उत हरि इतहिं राधिका गोरी।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ, बीच-बीच बाँसुरि धुनि थोरी॥

होली के अवसर पर जो फाग गाए जाते हैं उनमें इस हो.... हो....हो और 'होरी है, होरी है' ध्वनियों का कितना महत्व है इसे बताने की आवश्यकता नहीं। यह मूलतः ग्रामीण गीत है। इसमें इसीलिए नाद की आभिजात्यता की आवश्यकता नहीं होती। अतः सूर भी तदवत् वातावरण के सृष्ट्यार्थ उन्हीं आदिम ध्वनियों का आश्रय लेते है। यह आदिम तत्व जो जादू, टोने-टोटके, नज़र और झाड़-फूंक के रूप में आज भी हमारे घरों में प्रचलित हैं आदिम लोक-जीवन ही के अवशेष हैं। आज भी हमें जिन्हें आभिजात्य और संस्कृत होने का दावा है घरों में ऐसे अनेक अनुष्ठान करते हैं जहाँ घर की स्त्री ही पुरोहित होती है और वही यजमान। ये सब मानव का आदिम-मानस से सम्बन्ध प्रकट करते हैं।

'लोक-साहित्य' की महत्ता मनोवैज्ञानिक अध्ययन, साहित्यिक चिन्तन, और समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से तो है ही साथ ही सांस्कृतिक एकता की स्थापना में भी इसका अमूल्य योग है। इसमें हमें मानव मस्तिष्क की मूलभूत एकता के दर्शन होते हैं। आज की दुनिया में जो ईर्ष्या, द्वेष, भय, लूट-खसोट, आतंक और अनाचार के बादल छाए हुए हैं उसे देखकर मन दुःखी हो जाता है। बार-बार आशंका होती है कि मानव कहीं आत्मघात के लिए 'पोटेशियम साइनाइड' से भी तीव्रतर विष के आविष्कार का आयोजन तो नहीं कर रहा है? यह बदले-बदले तेवर, अस्त्र-शस्त्रों का विकट संभार, तनी भृकुटियों का आकुंचन और

दर्पोद्धत चरणों का भयंकर संचार बार-बार दिल में डर पैदा करता है कि कहीं विनाश का ताण्डव हो न जाय ? किन्तु ये 'लोक-साहित्य' के अमर वैतालिक, सांस्कृतिक समता की घोषणा मानवीय शाश्वत भावनाओं की आदिम अभिव्यक्ति के रूप में करते ही रहते हैं और कहते हैं कि हम सब प्रकृतितः एक हैं। उपरले सतह के इस आलोड़न-विलोड़न और विक्षोभ चांचल्य से भयभीत होने की कोई बात नहीं है। ऐसा तो इतिहास में अनेक बार हुआ है और हर बार मानव की यह पशुता अस्थायी सिद्ध हुई है। और अन्ततः उसने हमारे स्वर से स्वर मिलाकर गाया है:—

एक कदम इक डार बसैं वे दुइ पॅखिया रे,
सरग उड़न्ती एक उड़त फिरै दिन रतियाँ रे।
चुगत–चुगत गई दूर सो दूसर अनमनियाँ रे,
मरो माबियाधा ने बान रोवन लागी दोउ अँखिया रे।

विश्व की लोक-कथाओं का अध्ययन यदि 'टाईप' और 'अभिप्राय' की दृष्टि से किया जावे तो निःसन्देह छँट कर स्वतन्त्र 'मोटिब्स' अर्थात् अभिप्रायों की संख्या अत्यल्प रह जावेगी। सभी कथानकों के अभिप्राय परस्पर ऐसे समान हैं कि यह अद्भुत एकता देखकर आश्चर्य होता है। सभ्यता के नाना आवरणों में आवेष्ठित, विभिन्न भौतिकी वायुमण्डल में संकुलित, परस्पर सर्वथा अपरिचित जातियों में आपाततः एक ही प्रकार के वात्सल्य, भय, प्रेम, वीरत्व आदि के भाव तरंगित होते हैं; एक ही जैसी अनुभूतियाँ उनमें जिज्ञासा, आशंका और अनुष्ठान की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं; प्रकृति का उन्मुक्त वातावरण, वनचर, वृक्ष-लता गुल्म एक ही प्रकार की सहज-प्रेममयी मधुर अनुभूति उनकी धमनियों में संचरित होती है। यही मूल-एकता है जो उपरले सतह के विक्षोभ से भी अप्रभावित रहकर मानव को मानव का सहजात और सहानुभूतेय बनाए रखती है। लोक-साहित्य' की यह अमोघ शक्ति आज भी अजेय है। आज भी भ्रू कुंचित, रक्ताभ, युद्धोद्धत राष्ट्रों के बीच सहज-ऐक्य इसके द्वारा सम्भव है। आवश्यकता है केवल राष्ट्र-राष्ट्र को यह बताने की कि

गहराई में तुम एक हो, सहजात हो। यह कार्य तब तक सम्भव नही जब तक हम विश्व के कोने-कोने में प्रचलित इन लोक-कथाओं का संग्रह कर उनका वैज्ञानिक अध्ययन न करें। देश-देश के मनीषी इस कार्य में सहयोग दें और ऐसे लोक-साहित्य का उद्‌घाटन करें।

पिछली शताब्दी में लोक-साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में विभिन्न राष्ट्रों में उल्लेखनीय प्रयत्न हुए हैं, अनुसन्धान और शोध के लिए सुसंगठित योजनाएँ भी कार्यान्वित हुई है। 'आयरिश फोक्लोर इन्सटीट्यूट' की स्थापना इन्ही योजनाओं में से एक थी। आज इसमे भलीभाँति संग्रहीत और वर्गीकृत लोक-कथाएँ लाखों की संख्या मे उपलब्ध है। कई सहस्र लोक-कथाओं को डिक्टाफोन पर रिकार्ड भी कर लिया गया है। यह संग्रहालय विश्व का सम्भवतः सबसे बड़ा लोक-कथा भाण्डार है। इसके अतिरिक्त टायलर, लेंग और फ्रेज़र जैसे लोक-साहित्य विद् मनीषियो के उद्योग से इङ्गलैण्ड में भी लोकवार्ता परिषद् बनी और उसने भी बड़े उत्साह से संकलन का कार्य प्रारम्भ किया और आज तो इस अध्ययन को वैज्ञानिक रूप प्राप्त हो गया है, अध्ययन प्रणालियाँ निश्चित कर दी गई है। यह लोक-साहित्य, संकुचित अर्थों में जो अनभिजात्य, अशिक्षित, असभ्य या अर्धसभ्य जाति का साहित्य है—नागरिकजनों की परिष्कृत प्रतिभा और परिमार्जित बुद्धि का केन्द्र बनाकर नियमबद्ध किया जा रहा है, उसके विश्लेषण की परिपाटियाँ स्थापित की जा रही हैं।

हिन्दी मे लोक-साहित्य के प्रकाशन का कार्य वैसे तो खड़ी बोली के प्रारम्भिक चरण ही में प्रारम्भ हो गया था इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' लोक-कथा ही है। किन्तु दो दशक पूर्व तक इस ओर संतुलित कदम नहीं उठाए गये थे। लेखकों की दृष्टि में विवेचनात्मकता कम और इतिवृत्तात्मकता अधिक थी। पाठक वृन्द भी लोक और वेद के ऊपरी भेद को हृदयस्थ किए था और लोक-साहित्य को उपेक्षा की वस्तु समझता था। न तो लेखक ही लोक-साहित्य और लोक-जीवन की एकता के गम्भीर तत्व से परिचित थे और नाहीं समाज इस साहित्य की इस

विश्वजनीन संजीवनी से आस्वादित था। सर्वप्रथम श्री शिवसहाय चतुर्वेदी ने इस दिशा में प्रगति की और उन्होने 'मधुकर' के माध्यम से बुन्देल खण्डी लोक-कथाओं का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके बाद चतुर्वेदीजी ने ही अपना एक संग्रह 'पाषण नगरी' के नाम से १९५० ई० में प्रकाशित कराया। तदन्तर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनेक क्षेत्रीय लोक-कथाएँ यदा-कदा प्रकाशित होती रहीं किन्तु अभी तक इस साहित्य के विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक अङ्ग पर किसी ने लेखनी नहीं चलाई। लोक-साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० सत्येन्द्र ने 'ब्रज संस्कृति का अध्ययन' प्रस्तुत करके बादल की पहली बूंद का कार्य किया। उनका 'मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोक-तात्विक अध्ययन' लोक-साहित्य के वैज्ञानिक विवेचन का अभूतपूर्व निदर्शन है। विभिन्न प्रान्तों में लोक-साहित्य परिषदें एतद् विषयक साहित्य का संकलन कर रही हैं—अनेक विद्वान् आज लोक-साहित्य की महत्ता से प्रभावित होकर इस ओर अडिग-डग बढ़ा रहे हैं किन्तु प्रकाशन की सुविधा और वैज्ञानिक उपकरणों के अभाव से इस ओर उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पा रही है।

डॉ० चिन्तामणि का प्रस्तुत ग्रन्थ लोक-साहित्य के समीक्षात्मक वर्ग के इतिहास का प्रगति चिह्न है। 'लोकायन' ने लोक-जीवन के विभिन्न कालों और प्रान्तो को अपने अयन में यथायोग्य स्थान दिया है। प्रथम अध्याय-लोकायन-विवेचनात्मक दृष्टि से अत्युत्तम है। लोक-साहित्य की मूल भित्तियों का निरूपण और विवेचन बड़ी वैज्ञानिक रीति से ओजस्वी और प्रवाहमयी भाषा में प्रस्तुत करना डॉ० साहब जैसे मनीषा का ही कार्य है। वेद साहित्य अर्थात् नागरिक वाङ्मय आदिम मानस के स्वतः स्फूर्जित मौखिक वाक् से कितना अधिक प्रभावित है ? उसका प्राण-उत्स उसमें कहाँ निहित है ? उसकी भावनाएँ, कल्पनाएँ और उपमाएँ किन आदिम तत्वों से संजीवनी ग्रहण करती हैं ? आदि प्रश्नों का समाधान अत्यन्त कुशलता से 'लोकायन' में दिया गया है। डॉ० उपाध्याय लोक-जीवन के हमराही हैं उन्होंने, लगता है, उसकी प्रत्येक गति-विधि पर वैज्ञानिक की आँख रखी है मार्ग का कोई भी अणु अथवा नग उनकी

पैनी दृष्टि से नहीं बचा है। इतना ही नहीं उनकी लेखनी भी सशक्त है। उनके पगों में बालिसुत की अडिगता और दृष्टि में धनञ्जय की लक्ष्यनिष्ठा है—फिर तो पक्षी-अक्ष का वेध अनिवार्य है।

'लोकायन' का मैं लोक-साहित्य-जगत में स्वागत करता हूं और आशा करता हूं कि यह इस दिशा में प्रगतिशील विचारकों और अनुसन्धित्सुओं का प्रकाशवाहक (Torch Bearer) बनेगा।

इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिए मंगल प्रकाशन के संचालक श्री उमरावसिंहजी मंगल भी बधाई की आशा रखते होंगे लेकिन ऐसा करके मैं उन्हें 'सुख की चिर पूर्ति' तक पहुँचाया नहीं जाता। ऐसे ग्रन्थों को आलोकित करने वाले व्यक्त मेधासम्पन्न व्यक्ति तो राष्ट्र के निर्माणक हैं—केवल बधाई उनके लिए कदर करेगी ?

—देवराज उपाध्याय

अनुक्रम

१–लोकायन	१—५
२–लोकगीतों का उद्‌गम	६—१६
३–लोकगीतों की कुछ सार्वभौम प्रवृतियाँ	१७—२४
४–लोकगीतों की भारतीय परम्परा	२५—३७
५–प्रकृति एवं जनमानस का तादात्म्य	३८—५०
६–कबीर आदि सन्तों का लोकगीतों पर प्रभाव	५१—६९
७–इतिहास और जनश्रुति	७०—७५
८–रतजगा में विभिन्न देवी-देवताओं का आह्वान	७६—९५
९–मालवी लोक पहेलियाँ	९६—१३१
१०–मालवी लोकगीतों में पशु-पक्षी	१३२—१४६
११–लोककला की आदिम स्थिति एवं गोदनाकृतियाँ (Tattooing)	१४७—१५५
१२–बालकों के गीत	१५६—१७३
१३–भदावरी लोक-साहित्य के कुछ आकर्षण	१७४—१७८
१४–भदावरी लोकगीतों में फाग	१७९—१८४
१५–सन् सत्तावन की क्रान्ति और लोकगीतों का जनमानस	१८५—१८९

१

लोकायन

लोक

लोक का अर्थ विराट् जन-समुदाय है, जहां व्यक्ति-समष्टि का जीवन व्यापक चेतना के एक सम-स्तर पर आन्दोलित होता रहता है। लोक की सत्ता विधाता के विश्व की तरह सर्व-व्यापक है। लोक में भूमि और जन, दोनों के अस्तित्व की अनुभूति का भाव है। भूमि का एकाकी अस्तित्व जन के अभाव में निरर्थक है। भारतीय मान्यताओं में लोक, परलोक अथवा तीन लोक—मृत्यु, स्वर्ग और पाताल-लोक की कल्पना में जो रम्यता है, वह भी 'इहलोक' की चेतन-सत्ता की अनुभूति मात्र है। ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द 'लोक' की पार्थिव अर्थसत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता। 'दिव्य लोक' के सृजन का आदिस्रोत भी भावनाशील लोक-जीवन के स्पन्दन से विलग कर नही देखा जा सकता। भूमि का महत्व भी इसी कारण प्रतिष्ठित है कि वह जन को धारण करती है। मानव-जीवन की इह-यात्रा में व्यष्टि और समष्टि के विविध क्रिया-कलाप एवं सह-अस्तित्व से प्रेरित समस्त मनोभावनाएँ लोक-चेतना को प्रवाहित करती रहती हैं; और यहीं से संस्कृति की आदि-धारा का प्रवाह धर्म, दर्शन, साहित्य और कला की ओर उन्मुख होता है।

लोक और वेद

वेद से तात्पर्य है, ज्ञान। वैदिक आर्यों की विचार-परम्परा, रीति-

नीति एवं आचार-व्यवहार ने शास्त्रीय स्वरूप धारण कर जब अपने वर्ग-विशेष के स्वार्थों की रक्षा के लिए आचार-संहिता का रूप धारण किया, तब सामान्य और विशेष के रूप में 'लोक' का विभाजन हो गया। वेद, विशिष्ट वर्ग अथवा द्विजों की श्रेष्ठता का प्रतीक बन गया और आर्येतर जातियों के अस्तित्व के द्योतन के लिये 'लोक' शब्द का प्रचलन हो गया।

इस विभेद का हर युग में अस्तित्व रहा है किन्तु लोक की विराट् और अनन्त शक्ति के सम्मुख 'विशेष' के अहं की विकृति को सदा ही नत होना पड़ा है। वैदिक आर्यों और वर्ण-व्यवस्था के पोषक मनीषियों ने दस्यु, दास, अनार्य, शूद्र आदि पर द्विजत्व की श्रेष्ठता को थोपने का प्रयास भले ही किया हो, किन्तु लोक की व्यापक सत्ता को अस्वीकार करने में वे भी समर्थ नहीं हो सके। वेद में विश्वास रखनेवाले समाज के अतिरिक्त लोक की प्रतिष्ठा व्यापक रूप से बनी रही। भारत में विभिन्न लोक-संस्कृतियों का एक अद्‌भुत् समन्वय हुआ। न जाने कितनी जातियो ने भारत में, लोक-अस्तित्व में स्वयं को समर्पित कर दिया। सुर, असुर, दस्यु, दास, महिष, यक्ष-गन्धर्व, वानर-किन्नर, नाग, पौण्ड्र, द्राविड़, काम्बोज, दरद, पारद, खश, भल्ल, मल्ल, पल्लव, चीन, शक, यवन, हूण आदि अनेक जातियों ने वेदेतर होने के कारण बहिष्कृत स्थिति में होते हुए भी भारत की लोकोन्मुखी धारा को अपनी विशिष्टताओं से पुष्ट ही किया है। प्रत्येक युग के युग-द्रष्टा मनीषियों ने लोक और वेद दोनों की स्वतन्त्र सत्ता को मान्यता दी है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण सत्ता की प्रेरणा का उत्स लोक ही रहा है। वेदवेत्ता महर्षि व्यास ने लोक-धर्म और लोकविधान के प्रति अडिग आस्था प्रकट की है। 'लोक' से दूर रहने वाले व्यक्ति को वे विशेष महत्व नहीं देते। व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए लोकधर्म का निर्वाह आवश्यक है और तभी

व्यक्ति सर्वदर्शी होने के योग्य हो सकता है।[1] गीता में भी वेद के साथ लोक के महत्व को प्रतिष्ठित किया गया है।[2] बौद्ध और जैन संस्कृतियों का लोकग्राही स्वरूप ही लोक-निष्ठा का प्रबल प्रमाण है।

लोक का अध्ययन

लोकायन

अतीत से लेकर आज के हमारे युग तक लोक-जीवन की अप्रतिहत चेतना विविध रूपों में अपने अस्तित्व की विजय घोषणा करती आई है। वैज्ञानिक एवं भौतिक सभ्यता के चरम विकास की स्थिति में भी आज लोक-जीवन आदिम-स्तर की अनेक प्रवृत्तियों को अपनाये हुए है। भारत जैसे महादेश में विभिन्न वंश, परम्परा, रीति-नीति, आचार-विचार, वेषभूषा एवं भाषाओ में अपने अस्तित्व को धारण किये हुए, लोक-चेतना का महासमुद्र पुरातन और नवीन की प्रवृत्तियों को लेकर विराट्—एक राष्ट्र का स्वरूप धारण किये हुए है। आज 'पौर' और 'जनपद' लोक-जीवन की विशेषता और सामान्यता में भी 'लोक' के प्रकृत-स्वरूप को देखा जा सकता है। स्तर की विभिन्नता में भी मंगलविधायन के अनुष्ठान को सर्वोपरि महत्व देना है। अतः लोक की चेतना का, भावना का जो स्वरूप व्यक्त होता आ रहा है, उसकी गहराई में पैठने के निमित्त लोक-कथा, लोक-वार्ता, लोक-गीत, लोक-विश्वास, लोक-कला, पर्वोत्सव, त्यौहार, नृत्य आदि लोकायनी माध्यम का अध्ययन और विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

आज जबकि लोकतन्त्र के अस्तित्व को चिर-जीवित बनाये रखने के लिये स्वतन्त्र भारत में संकल्पपूर्ण अनुष्ठान किये जा रहे हैं, तब लोक

---

१. प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। महाभारत, उद्योग पर्व, ४३।३६

२. अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। अ० १५, श्लोक १८,

की युगानुकूल प्रतिष्ठा को संपोषित करने के लिये हमें लोक की यथा-स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। जिन पाश्चात्य मनीषियों ने लोक-तत्व का अध्ययन शुद्ध ज्ञान-साधना की दृष्टि से सम्पन्न किया है, वे हमारे लिये वन्दनीय हैं। किन्तु साम्राज्यवादी पश्चिम के लेखकों ने नृ-वंश का अध्ययन करते समय जाति की सभ्यता के स्तर को लेकर उच्च और निम्न की कोटि में रखकर अपने निर्दय शोषण को ढकने का प्रयास किया है। जाति (Race) की सभ्यता ही निर्णायक तत्व नही हो सकती। नृतत्व और पुरातत्व शास्त्र की आधुनिकतम शोध है कि लम्बी और चौड़ी आकृति-अस्थियों वाला नृवंश योरोप में उतरते पाषाण युग से ही रह रहा है। अतः विशिष्ट आकृति-अस्थि किसी विशेष रीति, जातीय-व्यवहार अथवा विचार की पोषक नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार किसी विशेष नासिकाग्र में किसी सांस्कृतिक तत्व का स्वत्वाधिकार नहीं होता। यह तो साम्राज्यवादी लेखकों ने "समशीतोष्ण प्रदेश का अधिकार" "गोरी जाति का उत्तरदायित्व" जैसी अन्य स्थापनाएं की।[१] वैसे मानव-शरीर में कोई वैशिष्ट्य नही है। उसमें मनस्तत्व ही प्रमुख है। वातावरण-विशेष में ही जाति और राष्ट्र का निर्माण होता है, अतः हमें भारत की जन-जातियों का, आदिवासियों के जीवन का अध्ययन करते समय उच्च और निम्न की विभेदात्मक मान्यताओं को लेकर नहीं चलना है। संस्कृति के स्तर भिन्न हो सकते हैं, विकास के गतिक्रम में भी अन्तर हो सकता है, ज्ञान और अज्ञान की स्थिति का अन्तर भी विचारणीय हो सकता है, किन्तु इससे हमारे सांस्कृतिक ऐक्य में कोई अन्तर नहीं आ सकता। समष्टि रूप में किसी भी वर्ग की विशेषता हमारी लोक-संस्कृति का

---

१. अ०भा० लोक-संस्कृति सम्मेलन (इलाहाबाद—अक्टोबर १६५८) में डॉ० भूपेन्द्रनाथ दत्त द्वारा दिये गये अध्यक्षपदीय भाषण के आधार पर।

अविभाज्य अंग है। मध्य युग की तरह नागरीय समाज से लोक-संस्कृति का बहिष्कार हमारे लिये साधनागत आदर्श नहीं बन सकता।

भारतीय संस्कृति में जिस लोकधर्म की प्रतिष्ठा हुई है, उसकी वर्चस्विनी शक्ति को लेकर ही लोक मंगल का विधान हो सकता है। आज की वैज्ञानिक सभ्यता ने भौतिकतापूर्ण जीवन को मानव-अस्तित्व का अनिवार्य आधार बना दिया है, ऐसी स्थिति में ग्राम और नगर के लोक-जीवन की क्रिया और प्रतिक्रियाओं को सचेष्ट होकर देखना-परखना है। केवल पंडितों और शास्त्र-निर्माता ज्ञानियों के ज्ञान-विज्ञान की परम्परा एवं मान्य सिद्धान्तों से ही लोक की संसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। विविध आयोजनाओं की सफलता के लिये लोक-हृदय का स्पर्श आवश्यक है। लोक के महत्व की अनुभूति एवं लोकायन की साधना का आकर्षण एक मेधावी साधक के लिये तो राष्ट्र की अमूल्य निधि है—

'काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए भू-भाग पर पनपता हुआ मानव-समाज भारतीय लोक है। यह लोक-जीवन हमारे सुदीर्घ इतिहास का अमृतफल है। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान, सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक के कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है।....'

'लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे हैं। जो ज्ञान लोक-हित के लिये नहीं, वह अधूरा है, वह मानवी चिन्तन का छूंछा फल है।....' [1]

---

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'लोक का प्रत्यक्ष-दर्शन' शीर्षक लेख। सम्मेलनपत्रिका (लोक संस्कृति अंक) पृष्ठ ६५।

२

लोकगीतों का उद्गम

लोकगीतों की स्रोतस्विनी के उद्गम स्थल को जानने की जिज्ञासा जन-सामान्य की अपेक्षा अध्ययनशील मस्तिष्क को अधिक सोचने और छानबीन करने के लिये प्रेरित करती है। जिन लोकगीतों की सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक सत्ता है, जिनके आकर्षण की छाया में मानव जीवन आन्दोलित होता रहता है, उनकी सृष्टि का आदि-स्रोत कहाँ छिपा हुआ है, यह निश्चित एवं निर्भ्रान्त रूप से कहना बड़ा कठिन है। मानवीय ज्ञान के अनन्त भण्डार इतिहास के अनेक पृष्ठों की उलट-फेर के पश्चात भी लोकगीतों के सृजन की तिथि को खोज निकालना किसी भी अन्वेषक के लिये सम्भव नही है। अतीत के शत-सहस्र युगों के अनावरण के पश्चात् भी लोकगीतों की उत्पत्ति के क्षणों को किसी कालविशेष की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। मानव-हृदय जब कभी भी सहानुभूति से प्रेरित सुख-संवेदनाओं से आन्दोलित हुआ होगा, गीतों के अज्ञात स्वर मनुष्य के अधरों पर गूँज उठे होगे। आनन्द की भावना से मानव जीवन सर्वदा ही पोषित होता रहा है। अतः आनन्द-भावना को मानव-जीवन के विकास की प्रमुख प्रवृत्ति ही माना जावेगा। इसकी मूल प्रेरणा है मानव हृदय की रसात्मक अनुभूति! इस अनुभूति का उद्वेलन हृदय की संकुचित सीमा में न समाकर जब वाणी द्वारा मुखरित होने की स्थिति में पहुँच जाता है तभी लोकगीतों का स्रोत उमड़ पड़ता है। इसी तरह के तथ्य-विश्लेषण के आधार पर पश्चिम के लोकगीत-चिन्तकों ने लोकगीतों को

मानव हृदय का उद्वेलित एवं स्वतः-स्फूर्जित संगीत कहा है।[1] मनुष्य के हृदय में चाहे वह सभ्य हो या असभ्य, पठित हो या अपढ़, स्वयं की भावनाओं को प्रकट करने की इच्छा और क्षमता अवश्य होती है। वह अपने भावों के उभार को प्रकट करने की चेष्टा करता है, और इस प्रयास में उसकी शब्दात्मिक अभिव्यक्ति लयपूर्ण होकर गीत का स्वरूप धारण कर लेती है। महादेवी वर्मा द्वारा दी गई गीत की परिभाषा में भी लोकगीतों के उद्गम की इस सहज स्थिति का उद्घाटन हो जाता है[2]। सुख-दुःखमयी भावावेश की अवस्था के चित्रण का माध्यम अश्रुपात, दीर्घनिश्वास, पुलक और मुस्कान आदि आनुभाविक आंगिक चेष्टाओं तक ही सीमित न रह कर हर्ष और वेदना का स्वरूप धारण कर कण्ठ के द्वारा साकार हो उठता है, तभी गीतों के स्वर फूट पड़ते हैं। ये गीत किसी कवि के नहीं, व्यक्ति विशेष के नही, अपितु सामान्य जनमानस की अज्ञात सृष्टि है। लोकगीतों के उद्गम से सम्बन्धित जिज्ञासा का देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा प्रस्तुत समाधान भावनात्मक होते हुए भी यथातथ्य विश्लेषण के अधिक निकट है। "कहाँ से आते हैं इतने गीत ? स्मरण-विस्मरण की आंख-मिचौनी से, कुछ अट्टहास से और कुछ उदास हृदय से। जीवन के खेत में ये गीत उगते हैं। कल्पना भी अपना काम करती है। रागवृत्ति भी, भावना भी और नृत्य का हिलोरा भी[3]।

---

१. "The primitive spontaneous music has been called folk-song".

२. सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था का विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है.... विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४१।

३ धरती गाती है....पृष्ठ १७८।

मानव-हृदय में स्पान्दित होने वाले विविध भाव ही लोक-गीतों के प्रेरणादाता सिद्ध होते हैं। मनुष्य के अर्द्ध चेतन मन में जीवन की छोटी-छोटी परिस्थितियां भावना की हल्की अभिव्यक्ति का स्पर्श पाकर कण्ठ माधुर्य से सिक्त होकर मुखर हो उठती हैं, तभी वे लोक-गीतों का स्वरूप धारण कर लेती हैं। लोक-मानस का रचनात्मक पक्ष सर्वदा ही रहस्योद्घाटन का इच्छुक रहता है और इसके द्वारा अपरिमेय मनोरंजन भी सम्भव है। जीवन में मनुष्य को अनेक अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के मध्य में होकर गुजरना पड़ता है। अनुकूल परिस्थितियों से हृदय मे उल्लास छलकने लगता है। लहलहाती हुई फसलों में अपने श्रम की सार्थकता को देख उसका हृदय आत्म-विभोर हो नृत्य करने लगता है। आत्मा का आनन्द आंगिक चेष्टाओं से प्रकट होकर नृत्य बन जाता है और मुखर होकर लोक-गीत! ऋतुओं के उत्सवों के समय नृत्य और गान का समन्वय हो जाता है। नृत्य और गान मानव-हृदय के आनन्द की अभिव्यक्ति के इस प्रकार माध्यम बन गये। आदि-मानव के युग मे लेकर आज तक मनुष्य की इस प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आया है। गान मनुष्य जीवन का एक स्वाभाविक अंग है। उसके लिये प्रकृति की यह एक शाश्वत देन है। सुख में गाकर वह उल्लसित होता है किन्तु केवल सुख ही गीतो की प्रेरणा का मुखर नही करता। कष्ट एवं पीड़ाओ की अनुभूति लोक-गीतो को जन्म देती है। लोक-गीतों का निर्माण तो प्रायः कुछ ही व्यक्तियों के द्वारा होता है किन्तु उनकी अनुभूति की व्यापकता जन-सामान्य के हृदय से मेल खाकर सार्वजनिन वस्तु बन जाती है। मानव-हृदय का यह शाश्वत सत्य प्रायः देखने में आया है कि प्रणय-सम्बन्धी सहज वृत्ति की तरह गीत-सृजन की सहज वृत्ति भी जन-मानस में समान रूप से स्पन्दित होती है [1]।

1. Arthur Loccesser, Humour in American songs, preface, page 7.

इस प्रकार लोक-गीतों के उद्‌गम का स्रोत ज्ञात होते हुए भी अज्ञात है। भारतीय लोक-गीतों के प्रति सर्वप्रथम आकर्षण उत्पन्न करने वाले गुजरात के लोकगीत-संग्राहक स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी ने लोक-गीतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है:—

"धरतीनां कोई अन्धारा पड़ोमांथी वह्यां आवतां झरणानुं मूल जेम कोई कदापि शोधी शकयुंनथी, तेम आ लोकगीतोनां उत्पत्ति स्थान पण अणशोध्यां ज रह्यां छे"....[1] पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने भी उक्त कथन का भावानुवाद हिन्दी में प्रस्तुत कर लोक-गीतों के उद्‌गम-स्थल पर अपने विचार प्रकट किये....''जैसे कोई नदी किसी घोर अन्धकारमयी गुफा से बहकर आती हो और किसी को उसके उद्‌गम का पता न हो ठीक यही दशा गीतों की है....[2]

लोक-गीतों के उद्‌गम एवं सृजनसम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर लोकगीतों के अध्येता एवं विवेचनकर्ताओं ने लोकगीत सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाएँ निर्धारित की हैं। व्यक्ति के मनोभाव लोक से सम्बन्धित होकर सामूहिक तत्वों के अनुरूप ढल जाते हैं। अतः लोक-गीतों के निर्माण का कारण व्यक्ति नही, जन-समूह है। नृतत्वशास्त्र एवं समाज-विज्ञान के विशेषज्ञों ने आदिम समाज की मानसिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करते समय आदिवासियों द्वारा गेय गीतों को लोकगीतों की संज्ञा प्रदान की है। 'लोक' शब्द का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'फोक' ग्रहण कर विवेचना करना सुविधामय रहेगा। सभ्य राष्ट्रों में बसनेवाली असभ्य, जंगली एवं आदिम जातियों की परम्परा, रीति-रिवाज एवं अन्ध-विश्वास आदि के लिये डब्ल्यू० जे० थामस ने सन् १८४६ में सर्व-

१. रढियाली रात, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ६।
२. कविता कौमुदी, भाग ५, ग्रामगीत प्रकरण, पृष्ठ ११।

प्रथम 'फोक-लोअर' का प्रयोग किया था।[1] उस समय से आदिम जातियों के गीत एवं नृत्य आदि के लिये 'फोक-म्यूजिक' या 'फोक-सांग्स' एवं 'फोक डान्स' शब्द प्रयोग में आने लगे। अंग्रेजी का 'फोक' शब्द जर्मन भाषा के Volkslied का भाषान्तर जान पड़ता है। उक्त शब्द को लोकगीत के पर्यायवाची शब्द के रूप में ग्रहण करने में अनेक पाश्चात्य लोक-गीत प्रेमियों को भी कुछ संकोच और अरुचि है। वे इसे असुन्दर एवं भद्दा शब्द मानने के साथ ही यह अनुभव करने लगे हैं कि इस शब्द से अप्रिय संकीर्णता ध्वनित होती है।[2] इसका कारण भी स्पष्ट है। गीतों के निर्माण की अन्तःप्रेरणा सभ्य एवं असभ्य व्यक्तियों में समान रूप से पाई जाती है। अतः आदिम जाति के लिये ही 'फोक सांग्स' की अर्थसत्ता को सीमित रखना संकीर्णता एवं अभिजात्य वर्ग के अभिमान का परिचायक हो सकता है। हिन्दी में प्रचलित ग्राम-गीत आदि शब्दो पर भी इसी दृष्टिकोण को लेकर विचार करना है।

यूरोप के लोकगीतों के अध्ययनकर्ता विद्वानों द्वारा निर्धारित लोक-गीत की परिभाषा विचारणीय है। उन्होंने असभ्य एवं आदिम स्थिति के लोगो के सहज-स्फूर्जित संगीत को लोक-गीतों की परिभाषा दी है। किन्तु यह परिभाषा संकुचित है। मानव हृदय में अपने आप उमड़ कर संगीत में प्रकट होने वाली भाव-धारा को हम आदिम और आधुनिक, सभ्य और असभ्य, ग्राम और नगर आदि विभेदों में रखकर विचार नहीं कर सकते। लोकगीत केवल आदिम जातियों की वस्तु नहीं हैं। आधुनिक विश्व के जन-मानस में भी गीतों के रूप में अनन्त भाव-धाराओं की अभिव्यक्ति होती रहती है। अपने आप को सभ्य समझने वाले यूरोपीय देशों के नगर-निवासियों की अभिजात्य परम्परा में, सांस्कृतिक-गर्व के

1. Encyclopaedia Britanica Vol. 9, page 447.
2. Humour in American Songs, preface, page 8.

दम्भ और अहं में नारी-हृदय की भावनाएँ कुंठित होकर रह सकती हैं; किन्तु भारत में तो क्या ग्राम, क्या नगर, सभी जगह उत्सव, त्यौहार एवं मंगलमय प्रसंगों पर गीतों का स्वर रुक ही नहीं सकता। पश्चिम के विद्वानों का अन्धानुकरण करने वाले भारतीय अध्येताओं ने भी लोकगीतों की परिभाषा देते हुए भारी भूल की है।[1] भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण में उक्त परिभाषा को स्वीकार नही किया जा सकता। लोकगीतों के सम्बन्ध में भारतीय लोक-साहित्य के मर्मज्ञों ने कलात्मक ढंग से अपने विचार भी प्रकट किये हैं। इन विचारों में हमें लोकगीतों की परिभाषा का कुछ आभास अवश्य मिल जाता है। किसी निश्चित परिभाषा का निर्धारण करने के पहिले लोकगीतों के सम्बन्ध में प्रकट किये गये कतिपय विचारों का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

० आज तो एवां गीतनी बात थाय छे के जेना रचनारांए कदी कागल ने लेखण पकड़यां नहि होय, ए रचनारां कोण तेनी ज कोई ने खबर नहि होय, अने प्रेमानन्द के नरसिंह महेतानी पूर्वे केटलो काल वीधीं ने ए स्वरो चाल्या आवे छे तेनीये कोई कल्पना करी नहि शकयुं होय, एनुं नाम लोकगीत[2]....

—मेघाणी

० ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है, छन्द नहीं, केवल लय है। लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है। ग्रामीण

---

1. "A folk-song is a spontaneous out-flow of the life of the people who live in a more or less primitive condition."

   —A study in Orrison Folk-Lore (K. B. Das) Intd. page 1.

२. रढियाली रात भाग १, भूमिका, पृष्ठ ६।

मनुष्यों के, स्त्री-पुरुषों के बीच में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्रामगीत हैं....[1]

—रामनरेश त्रिपाठी

• आदिम मनुष्य-हृदय के गानों का नाम लोकगीत है। मानव-जीवन की, उसके उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी करुणा की, उसके रुदन की, उसके समस्त सुख-दुःख की....कहानी इसमें चित्रित हैं....

....न जाने कितने काल को चीर के ये गीत चले आ रहे हैं।

....काल का विनाशकारी प्रभाव इन पर नहीं पड़ता।

....किसी की कलम ने इन्हें लेखबद्ध नहीं किया पर ये अमर हैं।[2]

—स्वर्गीय सूर्यकरण पारिख एवं नरोत्तम स्वामी

• गीत लोकगीत भी होते है और साहित्यिक भी। लोकगीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रहता है....वे लोक-भावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोकगीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण एवं सामान्यता कुछ अधिक रहती है....[3]

—गुलाबराय

• लोकगीत किसी संस्कृति के मुंह-बोलते चित्र हैं।[4]

—देवेन्द्र सत्यार्थी

---

१. कविता कौमुदी भाग ५, ग्रामगीतों का परिचय प्रकरण, प्रस्तावना, पृष्ठ १–२।

२. राजस्थान के लोक-गीत (पूर्वार्द्ध) प्रस्तावना, पृष्ठ १–२।

३. काव्य के रूप, पृष्ठ १२३।

४. 'आजकल' (दिल्ली) संख्या ७, नवम्बर १९५१।

गीत मानो कभी न छीजने वाले रस के सोते हैं। [1]

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

० ग्रामगीत सम्भवतः वह जातीय आशुकवित्व है जो कर्म या क्रीड़ा के ताल पर रचा गया है। गीत का उपयोग जीवन के महत्वपूर्ण समाधान के अतिरिक्त मनोरंजन भी है। [2] —सुधांशु

० लोकजीवन में लोकगीतों की एक चिरन्तन धारा अनादिकाल से चली आ रही है। मेरे अपने विचार से ये लोकगीत मानव-हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय या धुन (ध्वनि) प्रधान होते हैं। [3]

—शान्ति अवस्थी

० ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद हैं। [4]

—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

० लोकगीत विद्यादेवी के बौद्धिक उद्यान के कृत्रिम फूल नहीं, वे मानों अकृत्रिम निसर्ग के श्वास-प्रश्वास है। वे सहजानन्द में से उत्पन्न होने वाली श्रुति-मनोहरत्व से सहजानन्द में विलीन हो जाने वाली आनन्दमयी गुफाएं हैं। [5] —डा० सदाशिव कृष्ण फड़के

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी, गंगा धीरे बहो, भूमिका, पृष्ठ ६।

२. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १७५।

३. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, संवत्, २०१०, पृष्ठ ३७३।

४. छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय, भूमिका, पृष्ठ ५।

५. सम्मेलन-पत्रिका, लोकसंस्कृति अंक, पृष्ठ २५०—५१।

उपरोक्त उद्धारणों में लोकगोत के सामान्य लक्षण एवं अन्य विशेष-ताओं के सम्बन्ध में विविध विचार प्रकट किये गये हैं। इन विचारों का मन्थन करने पर लोकगीत के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं:-

१. लोकगीतों में मानव-हृदय की प्रकृत भावनाओं एवं विभिन्न रागवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

२. भावों को प्रकट करने के लिये वाणी का जो आश्रय लिया जाता है, वह लयात्मक होता है।

३. गान में सामूहिक प्रवृत्ति अधिक व्यापक है।

४. लोकगीतों का रचयिता अज्ञात होता है। व्यक्ति-विशेष की रचनाएं भी सामूहिक भावनाओ में ढलकर सामान्य हो जाती हैं।

५; लोकगीतों में मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न चित्र अंकित रहते है।

६. लोकगीतो से मनोरंजन भी होता है।

लोकगीतों के सम्बन्ध में तथ्यों का जो विश्लेषण किया गया है उनमें आत्मानुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति के तत्व ही प्रधान रूप से व्याप्त हैं। समस्त विश्व में भौगोलिक एवं प्राकृतिक विभिन्नताओं के कारण मनुष्य जाति को विविध रूप-रंग एवं शारीरिक बाह्य आकृतियों में ढल जाना पड़ा है, किन्तु प्रकृति की इस विविधता में भी मानवता के हृदय में भावनाओं का जो प्रकृत एवं स्वाभाविक स्पन्दन हुआ है उसमें एकरूपता का पाया जाना मानव-हृदय के शाश्वत एवं शुद्ध रूप को प्रकट करता है। लोकगीतों की मूल प्रेरणा का कारण समस्त रागात्मिक प्रवत्तियों को ही माना जायेगा. जहाँ आदिम मानव की चेतन एवं

अर्धचेतन स्वानुभूति भी सहज ही अपने आप व्यक्त हो गई। पाश्चात्य विद्वानों ने लोकगीत के लिये जो Spontaneous music की संज्ञा दी है वह अत्यन्त ही सार्थक है एवं तत्व-चिन्तन की गम्भीरता को प्रकट करती है। किन्तु मनोभावों की स्वतःस्फूर्जित अभिव्यक्तियों में भावों का जो उद्वेग कार्य करता है वहाँ संस्कारगत मनस्-स्थिति का प्रभाव भी अपना महत्व रखता है। अतः लोकाभिव्यक्ति में संस्कार एवं परम्पराओं का आधार भी विचारणीय है। वर्ग-विशेष अथवा जाति-विशेष के संस्कार प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। भारतीय लोकगीतों का अध्ययन करते समय इस तथ्य को लेकर ही विचार करना पड़ेगा। धार्मिक, आनुष्ठानिक एवं विभिन्न प्रसंगों पर गाये जाने वाले गीतों में जो प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं उनमें मानव की आदिम रागात्मक मनोभावनाओ के साथ ही भारतीय प्रदेशों में पल्लवित एवं पुष्पित संस्कारो की छाया को भी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। लोक-गीतों की सुनिश्चित परिभाषा निर्धारित करते समय, उसके ठीक-ठीक लक्षण का निर्देशन करते समय लोकपरम्परा को अवश्य ध्यान में रखना होगा। लोक-जीवन एवं लोकरीति की सामान्य और समष्टिगत पार्श्व-भूमि में लोकगीतों की पहिचान के लिये तामिल एवं सिहाली विचारकों की निम्नलिखित मान्यताएं लोकगीतों के सर्वमान्य लक्षणों को स्वीकार करने में सहायक सिद्ध होंगी:—

लोकगीतो का व्याकरण यही कहता है :–

१. गीतकर्ता अज्ञेय हो,

२. गीत तुक आदि नियमों का उल्लंघन अवश्य करे,

३. अनादिकाल से जनता जिसे अपनाती चली आ रही हो,

४. लय के साथ गाने योग्य हो।[1]

---

१. तामिल कान्फ्रेन्स के वार्षिक अंक में प्रकाशित अंश का दिनमणि साप्ताहिक में दिया गया उद्धरण।

उपरोक्त उद्धरण में तुक आदि के लिये निर्धारित शास्त्रीय नियमों के उल्लंघन की अनिवार्यता भी लोकगीत का एक लक्षण मानी गई है। लोकगीतों की भावना और उसकी अभिव्यक्ति का आधार ही सरलता एवं सहजता है, जहां किसी भी प्रकार के कृत्रिम बन्धनों के लिये कोई स्थान नहीं होता। व्यक्तित्व-प्रधान रचनाओं में भी भाषा, भाव, शैली, आदि के सम्बन्ध में बन्धनों की अनिवार्यता अनावश्यक समझी जाती है। अतः सामूहिक चेतना और लोकभावना पर आधारित गीतों की अभिव्यक्ति में छन्द या रचना-विधान की रूढ़िगत परम्परा को लेकर चलना सम्भव भी नहीं है। स्वच्छन्द एवं उपयुक्त वातावरण तो लोकगीतों के निर्माण की प्रथम एवं आवश्यक स्थिति है। लोकभावना जहां सभ्यतागत मिथ्या-आडम्बरो और बन्धनों की चिन्ता नहीं करती, वहाँ अभिव्यक्ति-सम्बन्धी भाषा, एवं छन्द के शास्त्रीय नियमों के बन्धनों की ओर ध्यान देने की चेष्टा होगी, यह आशा करना भी व्यर्थ है। लोकगीतों के सम्बन्ध में दिये गये विभिन्न विचारों के मन्थन से परिभाषा का निर्धारण किया जा सकता है। संक्षिप्त में लोकगीत की परिभाषा यही हो सकती है:—

सामान्य लोकजीवन की पार्श्वभूमि में अचिन्त्य रूप से अनायास ही फूट पड़ने वाली मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति लोकगीत कहलाती है।

३ | लोकगीतों की कुछ सार्वभौम प्रवृत्तियां

देश और काल की मर्यादा मे न बँध कर मानव-हृदय की भावनाओ का स्पन्दन एक-जैसा ही होता है और यही कारण है कि संसार भर के लोकगीतों मे सर्वत्र एक ही अन्तर्धारा प्रवाहित होती है। लोक-जीवन की अनन्तता में भावोर्मियों के मृदु-कम्पन का इतिहास इस दृष्टि से बड़ा व्यापक है। सृष्टि के विकास से लेकर आज तक मनुष्य ने जो कुछ भी सोचा, अनुभव किया और जीवन के संघर्ष में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा, उसका प्रत्यक्ष रूप एक विचित्रता से परिपूर्ण है, जहाँ मनुष्य के हृदय की स्पन्दनशील चेतना का, नवीन गति एवं नई स्फूर्ति के संचरण का प्रादुर्भाव होता है। लोक-गीतों में मानवहृदय के भाव लोक-जीवन के सामान्य धरातल पर उतर कर आशा, निराशा, आकर्षण विकर्षण, हर्ष, विमर्ष एवं प्रणय व कलह आदि के रूप में व्यक्त हुए हैं। लोकगीतों की इस अभिव्यक्ति में हमें मानव जीवन की उस प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते है जहाँ साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग, उल्लास, प्रेम एवं घृणा आदि भावो को प्रकट करने में समाज द्वारा मान्य शिष्टाचार के कृत्रिम बन्धनों को स्वीकार नही करता। स्वच्छन्द भावना और उसकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति लोक-गीतो का प्रथम लक्षण है। भाव और भावों को प्रकट करने की विभिन्न प्रणालियों में लोकगीतों की जिन सामान्य एवं सार्वभौम प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है, उनके द्वारा

लोक-गीतों के प्रकृत स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। भावों की लयात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही लोक-गीतों में प्राप्त निम्नलिखित सार्वभौम विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं:—

[१] निरर्थक शब्दों का प्रयोग [२] पुनरावृत्तियाँ।

[३] प्रश्नोत्तर-प्रणाली [४] टेक।

निरर्थक शब्दों के प्रयोग का कारण स्पष्ट है। लोक-गीतों के रचयिताओं के पास शब्द का ज्ञान-भण्डार बहुत ही सीमित रहता है। शब्द थोड़े होते हैं, और भाव बहुत अधिक होते हैं; अतः शब्द-चातुर्य की कमी को पूरा करने के लिये स्वरों की सहायता के साथ ही निरर्थक शब्दों का आश्रय लिया जाता है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति को गेयता के अनुकूल बनाना भी सहज हो जाता है। गीतों की पंक्तियां भी प्रायः दोहराई जाती हैं। यह पुनरावृत्ति संगीत के प्रभाव एवं ध्वनि—माधुर्य को साकार करती है। वस्तुतः लोक-गीतों में शब्दों से पहिले लय को अधिक महत्व दिया जाता है। लय के द्वारा ही भावों की उठान को सहज व्यक्त करने की प्रेरणा होती है, भावों का भार-वहन करने वाले शब्द तो बाद में निसृत होते हैं।

पुनरावृत्तियाँ

लोक-गीत में कुछ पंक्तियों को शब्दों के फेर-फार से बार-बार दुहराया जाता है। इन पुनरावृत्तियों में भाव-सौन्दर्य का चाहे अभाव रहे, किन्तु किसी गीत को मौखिक-परम्परा में जीवित रखने के लिये ये पुनरावृत्तियाँ बड़ी सहायक होती हैं। इस प्रकार के गीतों को बड़ी सरलता के साथ स्मृति में रखकर कण्ठस्थ किया जा सकता है। पुनरावृत्ति शैली के कुछ गीत उल्लेखनीय हैं। गुजराती का एक गीत है:—

"सोनल रमती रे, गढडा ने गोखे जो; गढडा ने गोखेजो।
आडो आव्यो रे सोनल दादा नो देश जो; दादा नो देश जो।
दादे दीधां रे सोनल धोलुडा धण जो; धोलुडा धण जो।[1]

इसी तरह अमेरिका के ओझार्क प्रदेश का गीत भी उल्लेखनीय है–

He bought for the younger a fine gold-ring.
Most gently.
He bought for the younger a fine gold-ring.
And for the older not one thing,
Oh dear me.
He bought for the younger a beavers hat,
Most gently.
He bought for the younger a beavers hat,
And for the older she got mad at that.
Oh dear me.[2]

प्रश्नोत्तर प्रणाली

लोक-गीतों में प्रश्नोत्तर प्रणाली अपनाने की प्रवृत्ति भी अधिक व्यापक है। संवाद-शैली में भाव बड़ी सरलता के साथ व्यक्त हो जाते हैं, इसलिये उक्त शैली का प्रयोग भी लोक-गीतों की एक रूढ़ि-सा बन गया है। प्रश्न में उत्पन्न जिज्ञासा बड़ी सरल होती है और उसका समाधान-कारक उत्तर भी सीधा-साधा एवं आडम्बर-विहीन होता है:—

---

१. रढ़ियाली रात, भाग १, पृष्ठ १०७

2. Ozark Folk Songs. Page 57-58

Oh who will shoe my feet ?
And who will glove my hand ?
And who will kiss my rosy cheeks,
When you are in furrin land ?
Your father will shoe your feet,
Your mother will glove your hand,
Some other will kiss your rosy cheeks,
When I am in furrin land. [1]

गुजराती गीतः—

'कां तो तारी माता ए तने मारिश्रो रे ?
कां तो तारे दादे दीधी गाल् ?
कां तो तारा भाई-बन्धे तने मोलव्यो रे ?
कां तो तारे वेरीए वतावी वाट ?
नथी मारी माता ए मने मारिश्रो रे
नथी मारे दादे दीधी गाल्
नथी मारे भाई बन्धे मने मोलव्यो रे
नथी मारे वेरीए वतावी वाट [२]

टेक के द्वारा गीत का विस्तार एवं भाव-व्यंजना को गति मिलती है। वस्तुतः टेक गीत की भावनाजन्य श्राधार–भूत पंक्ति होती है जिससे पूरे गीत का विस्तार किया जाता है। उक्त चारों प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य लोकगीतों में भी परिलक्षित है। [3]

---

1. वही, page 118.
२. रढ़ियाली रात, भाग ३, पृष्ठ ११-१२
3. The characteristics of folk songs are as to substance, repetitions, interjection and refrains as to form a verse accomodated to dance.
—George Sampson. Cambridge History of English literature, Page 106

इनके अतिरिक्त भारतीय एवं यूरोपीय लोक-गीतों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी विचारणीय है। इनमें परम्परा के निर्वाह की प्रवृत्ति अधिक महत्वपूर्ण है। सामूहिक लोक-भावना पर आधारित होने के कारण परम्परा से प्रचलित लोक-गीतों का अस्तित्व तो अपना विशेष महत्व रखता ही है, किन्तु मौखिक परम्परा में रहने के कारण पुरातन भावनाओं के आधार पर जनमानस नवीन रचनाओं का निर्माण करने में भी सजग रहता है। भारतीय स्त्रियों के लोक-गीतों के साथ आनुष्ठानिक प्रवृत्ति होने के कारण परम्परा के गीतों में परिवर्तन की उतनी सम्भावना नहीं है फिर भी 'बना-बनी', 'पारसियाँ' एवं 'गालियाँ' आदि प्रवृत्ति के लोक-गीतों में विभिन्न युगों के परिवर्तन और इतिहास का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इस तरह के लोक-गीत प्राचीन परम्परा के बन्धन से मुक्त हैं। इस तरह के गीतों पर सिनेमा के गीतों का सर्वाधिक असर हुआ है, और यह प्रवृति एक ओर पुरातन लोकधुनों का जहाँ लोप करती जा रही है, वहीं जनमानस के प्रकृत स्वरूप को विकृति की ओर लेजाने का कारण भी बन रही है। वैसे सहज परिवर्तन की स्थिति उतनी भयानक नहीं है, क्योंकि लोक-गीत अपनी मौखिक परम्परा के कारण एक पीढ़ी से दूसरी एवं एक स्थान से दूसरे स्थान तक अभ्यन्तरित होने में बहुत कुछ बदल जाते हैं। यूरोपीय देशों में तो लोक-गीतों के लुप्त होने का भय उत्पन्न हो गया है। यदि गीत लिपिबद्ध नहीं हुए तो परम्परागत गीतों के गायक की अप्रत्याशित मृत्यु हो जाने पर लोक-गीत विशेष के लुप्त हो जाने का भय बना रहता है। वास्तव में लोकगीतों का परम्परा के साथ एक ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है जो सभ्यता के चरम विकास की स्थिति में भी बना रहता है।[1] उसको भुलाना एकदम सहज नहीं है। आज के उलझनमय एवं व्यस्त जीवन में लोकगीत उस पुराने मित्र के समान

1. Ozark Folk-Songs, chapt. 1, Page 33

हैं, जिसके कारण अच्छे समय की मधुर स्मृतियाँ एवं आनन्द के क्षण सजग हो उठते है।[1]

परम्परा–निर्वाह के साथ ही भारतीय लोक-गीतों में पाई जाने वाली कुछ रूढ़ियां भी उल्लेखनीय हैं:—

संख्या

लोक-गीतों में संख्याओं का कुछ रूढ़ प्रयोग मिलता है। जहाँ संख्याओ का प्रयोग किया जाता है वहाँ वास्तविकता में अंकों की कोई अर्थ-सत्ता नहीं रहती और गणित दृष्टि से उन संख्याओं का यथा-तथ्य महत्व भी नहीं होता। वैसे भारतीय लोक-गीतों में पांच, सात एवं नौ की संख्या का विशेष उल्लेख हुआ है। लोक-जीवन की मान्यताओं में उक्त संख्याओं को शुभ माना जाता है।

५ की संख्या—पांच मोहर को कसूमल रंगायो।
—पांच रुपया का पतासा मँगाव।
—पांच करन की पिया बावड़ी।
(मालवी लोकगीत की पंक्तियां)

७ की संख्या—सात सहेलड़ी वो।
—सात सैयर जल भरवां जाय [गुजराती]

पांच, दस एवं बीस की संख्या मनुष्य के आदिम परिगणन-ज्ञान की सूचक हैं। आदिम जातियों में हाथ-पैर के पांचों अंगुली-अंगूठे को लेकर संख्या का निधारण किया जाता है।[2] किन्तु साधारण जनता में भी

---

1. Humour in American songs, Preface Page 14.
2. E. B. Taylor, Anthropology, vol. 1. PP. 13; vol II PP. 62

पंचोल (५) छकड़ी (६) एवं कोड़ी (२०) आदि संख्याओं के द्वारा जीवन का विनिमय-व्यापार चलता रहता है। परिगणन की आदिम, शैली ने लोक-गीतों में परम्परा का स्वरूप धारण कर लिया है। लोक गीतों में निम्न-लिखित संख्याओं का रूढ़िगत प्रयोग होता है:—

समूह का भाव प्रकट करने के लिये सात की संख्या का प्रयोग—

—सात सहेलियाँ, —सात रानियाँ, —सात बेटा,

हार (मौक्तिकमाला) नवसर का ही होता है, यहीं नवलाख की संख्या भी उल्लेखनीय है। डेरे 'नवलख बाग' में लगते हैं। रोना भी 'नवसर धार' में ही होता है।

असंख्यत्व अथवा परिगणन की सीमा से परे का भाव प्रकट करने के लिये छप्पन एवं द्वित्व की संख्या का प्रयोग किया जाता है—

–नव कोड़ी नाग ने छप्पन कोड़ी देवता, जोवे त्हारी वाट।

–पाक इ पान–पचास

वैसे अत्रीस बत्रीस (गुजराती) बावन-बीस तेवन-तीस, आसठ-बासठ आदि संख्याएँ भी उक्त भाव को प्रकट करती हैं।

कुछ अतिशयोक्तियाँ

भावनाओं के वैभव-मय क्षेत्र में प्रभुता सम्पन्नता एवं विपुलता आदि को प्रदर्शित करने के लिये अतिशयोक्तियों का प्रयोग भी लोक-गीतो की एक रूढ़िगत विशेषता है। मांगलिक अवसरों पर केसर से ही आंगन लोपा जाता है। उसमें मोती के अक्षत विकीर्ण होगे। चौक गज मोतियो से पूरा जाता है। प्रियतम के पत्र को पढ़ने के लिये दीप–संजोने में नौ मन तेल जल जाता है। दीपक भी मिट्टी के नही, सोने और चांदी के

ही होते हैं। लोक-गीतों के क्षेत्र में, भावना के लोक में सोने-चांदी एवं रत्न-मोतियों की मानों कमी ही नहीं है। पक्षियों का वर्ण-सौन्दर्य भी स्वर्ण और रजत की चमक में ही परखा जाता है।

अन्तहीन परिगणन (Ad Infinitum)

भारतीय स्त्रियो में गीतों का निर्माण करने की प्रवृत्ति अधिक सजग रहती है। गीत की एक पंक्ति, टेक को लेकर अपने मन से अनेक वस्तुओं का उसमें समावेश कर गीत के कलेवर को बढ़ाती चलती है। एड-इन्फिनिटम अथवा अन्तहीन परिगणन का सिद्धान्त स्त्रियों के गीतों पर पूर्णतः लागू होता है। भारतीय एवं पाश्चात्य लोक-गीतो में इस तरह के अनेक उदाहरण मिल सकते है—

—चौपड़ काय को मंगाई रसिया, गोरी खेलन को तरसे ?
—बिड़ला (पान) काय को मंगाया, गौरी चाबन को तरसे,
—ढोल्या (पलंग) काय को मंगाया, गौरी पोढ़न को तरसे ?

प्रस्तुत गीत में वस्तुओ के उल्लेख का कोई अन्त नहीं। इत्र की शीशी, पुष्प हार, सुन्दर वस्त्र, विभिन्न आभूषण मिठाई एवं उपभोग्य अनेक वस्तुओ के उल्लेख में गीत बढ़ता ही जाता है। पश्चिमी लोक-गीत का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

Oh, father, have you brought my gold,
Father have you paid my fee ?
Oh have you come to see me hung
On yonder gallows Tree.

पिता के पश्चात् माता, भाई, बहिन एवं परिवार के अन्य सम्बन्धियों के उल्लेख में गीत का कलेवर बढ़ा दिया जाता है।

४

लोकगीतों की भारतीय परम्परा

संसार की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद मानी जाती है। आर्ष ऋषियों की व्यक्त भावना का प्रारंभिक स्वरूप भी लोकगीतों जैसा ही दृष्टिगत होता है। भावनाओ की सरल, सहज एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के साथ ही लोकमानस की जिज्ञासा, विस्मय, कौतूहल आदि का प्रारंभिक रूप भी वहां दिखाई देता है। लोकजीवन की आशा और आकांक्षाओ का भी ऋग्वैदिक ऋचाओं में स्फुरण हुआ। इस दृष्टि से उस युग की इन गेय ऋचाओं को लोकगीतो को संज्ञा भी दे सकते है, क्योंकि समष्टिमय जीवन में ही व्यक्ति की भावनाएं स्पन्दित हुई है। किन्तु वैदिक युग में पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाह आदि उत्सवो पर गाये जाने वाले गीतों का स्वरूप कैसा रहा होगा, यह निर्धारित करना संभव नही हो सकता। यज्ञ, उत्सव अथवा पर्वो के समय स्त्रियो के द्वारा अपने कोमल कण्ठो से गीत गाकर मंगलमय प्रसंग में मनोरंजन की रोचकता उत्पन्न करने का प्रयास भी अवश्य किया जाता होगा। किन्तु उसका निश्चित प्रमाण मिलना भी संभव नही। वेदो में गाथा एवं गाथिन् (गाने वाला) शब्दों के प्रयोग को लोकगीत मान लिया गया है। विवाह आदि अवसरों पर गाये जानेवाले गीतों को 'रैभी' एवं 'नाराशंसी' तथा 'गाथा' कहा जाता था।[1] सूर्या के विवाह संस्कार के सन्दर्भ में रैभी एवं नारा-

---

1. डॉ० शिवशेखर मिश्र का लेख : भारतीय संस्कृति में लोकगीतों की अभिव्याप्ति : सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृष्ठ १३१।

शंसी शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु उक्त दोनों गाथाएं हैं, लोकगीत नही। 'गाथा गीयते'—गाथा गाई जाती है, किन्तु वह पुरोहित एवं ब्राह्मणों के द्वारा ही, जन सामान्य के द्वारा नही।[1] 'रैभी' वैदिक मंत्र अवश्य है, किन्तु उसका प्रयोग पुरोहित द्वारा ही होता है, और नाराशंसो में मनुष्य की स्तुति का समावेश है। इस तरह की गाथाओं का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण एवं ऐतरेय ब्राह्मण मे दी गई गाथाओ में राजाओं के चरित्र का वर्णन मिलता है, वहां लोकगीतो को मूलभावना का अभाव है। रैभी और नाराशंसी से आगे चलकर स्तोत्र एवं स्तुतिपरक प्रवृत्ति का विकास अवश्य हुआ जिसने भजन जैसे लोकगीतो को जन्म दिया।

ऋग्वेद के पश्चाद् के साहित्य मे लोकगीतो की प्रवृत्ति का उभार नही हो सका। वस्तुतः संस्कृत जैसी वर्ग विशिष्ट की भाषा में लोकगीतो का समावेश होना संभव भी नहीं है। उच्च स्तर की स्थिति पर पहुंची हुई साहित्यिकों एवं पुरोहितों की भाषा जन-सामान्य के लिये पराई भाषा हो गई और रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचारानुसार मृत भाषा में, गल्प और गान संभव ही नही है। भाषा जब तक जन सामान्य को भावों के प्रवाह में बहा न ले जाय तब तक गल्प और गान का आविर्भाव संभव

---

१. ० युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथायोरौ रथ उरुयुगे।
गाथा स्तोत्रेण—फुटनोट, व्याख्या, ऋग्वेद वेद ८।९८।९
० रैभ्यासोदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी, ऋक १०।८५।६
व्याख्या—रैभ्य : काश्चनर्च : शंसति रेभन्तो वै देवाश्चर्षयश्च स्वर्गलोकमायन् इत्यादि ब्राह्मणविहिता रैभ्यः। मनुष्याणां स्तुतयो नाराशंस्य सा काराशंसी न्योचयी। गाथा गीयते इत्यादि ब्राह्मणोक्ता गाथा।

नहीं हो सकता। सरस काव्य के रचयिता कालिदास एवं संस्कृत के गीतकार जयदेव भी बंगाली वैष्णवों की समता नहीं कर सकते। कालिदास का काव्य भी झरने की तरह सर्वांग रूप से नही बहता। उसका श्लोक अपने में ही सम्पूर्ण है। वह श्लोक हीरे के टुकडे जैसा है। किन्तु नदी के समान कल-कल-निनादिनो अविच्छिन्न धारा नहीं।[1] लोक-गीतों की अजस्र धारा को हमें संस्कृत के 'कूप-जल' में नहीं, जन-जीवन को तरंगित करने वाली जन-भाषा में खोजना पड़ेगा। वेद, ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थो में वर्णित यज्ञगाथा अथवा राजाओ के यशोगान में लोक-गीतों का प्रकृत स्वरूप दुर्लभ ही रहेगा। संस्कृत साहित्य से लोक-गीतों के अस्तित्व का केवल संकेत मिल सकता है। इस विषय की विस्तृत जानकारी हमें पालि, प्राकृत आदि जन-भाषाओ में अवश्य ही मिल सकती है; क्योंकि जन-जीवन के सम्पर्क की व्यापक आयोजना में लोक-गीतो का पक्ष अछूता कैसे रह सकता है। बौद्ध साहित्य को सच्चे अर्थ में लोक-साहित्य की सज्ञा प्राप्त है। त्रिपिटकों में स्थान-स्थान पर सामान्य जन-जीवन का यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्र मिलता है 'सुत्त-निपात' में धनिय गोप के जीवन का चित्र एक गीत में प्रस्तुत किया गया है....

"अब हे देव चाहो तो खूब बरसो।
भात मेरा पक चुका है,
दूध दुह लिया गया है,
गंडक नदी के तीर पर अपने स्वजनो के साथ वास करता हू।
कुटी छाली है, आग सुलगा ली है।
अब हे देव चाहो तो खूब बरसो!

१. रवीन्द्रनाथ टैगोर....प्राचीन साहित्य (बंगला संस्करण) पृष्ठ ५५।५६

मच्छर मक्खी यहां नहीं है,
कछार में उगी घास को गायें चर रही हैं,
पानी भी पड़े तो वे उसे सह लें,
अब हे देव चाहो तो खूब बरसो !
मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचंचला है,
वह चिरकाल की प्रियसंगिनी है,
उसके विषय में कोई पाप नहीं सुनता,
अब हे देव चाहो तो खूब बरसो !
मेरे तरुण बैल और बछड़े है,
गाभिन गाएं और तरुण बछड़े भी हैं,
सबके बीच वृषभराज भी है,
खूंटे मजबूत गड़े है,
मुंज के पगहे नये और अच्छी तरह बटे हुए हैं,
बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते ।
अब हे देव चाहो तो खूब बरसो....[1]

उक्त गीत में लोक-गीत का एक प्रमुख लक्षण विद्यमान है । लोक-गीतों में भावना की सरल एवं अकृत्रिम अभिव्यक्ति के साथ ही गीत-रचना-विधान में एक सुनिश्चित आधारभूत पंक्ति टेक का बड़ा महत्व रहता है । टेक की पंक्तियां बार-बार दोहराई जाती हैं । 'अब हे देव चाहो तो बरसो' गीत की टेक है । बौद्ध साहित्य की थेरी गाथाएं लोक-गीतों की कोटि में आती है । इनमें टेक एवं प्रश्नोत्तर प्रणाली के अनेक उदाहरण मिलते है । थेरी गाथा के कुछ उद्धरण विचारणीय है....

---

१. पालि साहित्य का इतिहास....पृष्ठ २३७ ।

कालका भ्रमरवण्ण सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुं
ते जराय साणवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा····२५२
वासितो व सुरभिकरण्डको पुप्फपूरंमम उत्तमङ्गमु
तं जराय समलोम गन्धिकं सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा····२५३
काननं व सहितं सुरोपितं कोच्छसूचिविचितग्ग सोभितं
तं जराय विरलं तहिं तहिं सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा····२५४
सण्हगन्धक सुवण्ण मण्डितं सोभते सुवेणिहि अलंकतं
तं जराय खलति सिरं कतं सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा····२५५

० भ्रमर के रंग के समान काले, जिनके अग्र भाग घुंघराले थे,
ऐसे किसी समय मेरे बाल थे,
वही आज जरावस्था मे जीर्ण सन के समान हैं।
सत्यवादी के वचन कभी मिथ्या नही होते।

० पुष्पाभरणों से गुंथा हुआ मेरा केशपाश कभी चमेली के पुष्प की
सी गन्ध को वहन करता था,
उसी में आज जरा के कारण खरहे के रोआं की-सी दुर्गन्ध आती है।
सत्यवादी के········!

० कंघी एवं चिमटियों से सजा हुआ मेरा सुविन्यस्त केशपाश कभी
अच्छे रोपे हुए सघन उपवन के समान शोभा पाता था,
वही आज जरा-ग्रस्त होकर जहाँ तहाँ बाल टूटने के कारण विरल
हो गया है।
सत्यवादी के········!

० सोने के आभूषणों से सजी हुई, महकती हुई चोटियो से गुंथा हुआ
कभी मेरा सिर रहा करता था,
वही आज जरावस्था में भग्न और विनमित है।

इसी तरह २७० क्रमांक तक 'सत्यवादी के वचन मिथ्या नहीं होते' टेक गीत को आगे बढ़ाती है। [१]

प्रश्नोत्तर-प्रणाली का उदाहरण

विपुलं अन्नञ्च पानञ्च समणानं पवेच्छसि
रोहिणी दानि पुच्छामि केन ते समणा पिया····२७२
अकम्मकामा अलसा परदत्तोपजीविनो
आसंसुका सादुकामा केन ते समणा पिया····२७३
कम्मकामा अनलसा कम्मसेठस्स कारका
रागंदोसं पजहन्ति तेन मे समणा पिया········२७५
तीणी पापस्स मूलानि धुनन्ति सुचिकारनो
सब्ब पापं पहीनेसं तेन मे समणा पिया········२७६
काय कम्मं सुचि नेसं वचीकम्मञ्च तादिसं
मनो कम्मं सुचि नेसं तेन मे समणापिया····२७७ [२]

- श्रमणों को तू बहुत अन्नपानादि दान करती है
  रोहिणी मैं तुमसे पूछता हूं····श्रमण तुम्हें इतने प्रिय क्यों है ?
- देख, ये भिक्षु श्रम नही करते, आलसी है,
  दूसरों का अन्न खाने वाले है,
  लोभी और स्वादिष्ट भोजन के लालची है,
  फिर भी ये श्रमण तुम्हें क्यों प्रिय है ?

---

१. थेरीगाथा वीसतिनियातो, राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कोसल्यायन एवं जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संस्करण, १९३७ पृष्ठ २३।२४.

२. वही, पृष्ठ २४ : २५।

- वे श्रमशील है, अप्रमादी है, श्रेष्ठ कर्म करने वाले है,
  उनमें तृष्णा नही है, द्वेष नही है,
  इसीलिये श्रमण मुझे प्रिय है।
- तीनो प्रकार के पापों की जड़ काटकर उनकी देह विशुद्ध है,
  उनका चित्त शुद्ध है,
  सब पाप उनके प्रहीण हो गये है,
  इसीलिये श्रमण मुझे प्रिय है।
- कायिक कर्म उनके विशुद्ध है, वाचिक कर्म उनके विशुद्ध है,
  मानसिक कर्म उनके विशुद्ध है,
  इसीलिए श्रमण मुझे प्रिय है....[१]

गीता के रूप मे व्यंजित हुई बौद्ध भिक्षुणियो की भावना का आधार केवल उपदेश अथवा अपने सम्प्रदाय के विचारो को प्रचारित करने का प्रयास मात्र ही नही माना जायेगा। यहां वैयक्तिक ध्वनि अवश्य है, किन्तु जीवन की गहनतम अनुभूतियो के उभार मे नारी की स्वतः-स्फूर्जित प्रेरणा भी कार्य करती है; और इसी के कारण भावो का निर्मल एवं प्रकृत स्वरूप सामने आ सका है। गीतो के भावो की पृष्ठभूमि में भले ही बौद्धदर्शन की छाया का प्रभाव हो, किन्तु भावो की सहज व्यंजना एवं रचना-शैली लोकगीतो पर आधारित है। पालि साहित्य मे लोकगीतो की भावना का अतुल भण्डार सुरक्षित है। प्राकृत भाषाओ मे भी इसकी कमी नही है। विक्रम की तीसरी शताब्दी मे जिस समय प्राकृत का प्रचार अधिक व्यापक हो गया था, लोकगीतो की प्रगति में भी एक उभार आया। 'हाल' की गाथा सप्तशती मे लोक-साहित्य के माधुर्य का

---

१. हिन्दी अनुवाद, भरतसिंह उपाध्याय–कृत 'थेरी गाथाएं' पुस्तक पर आधारित है।

आस्वादन किया जा सकता है। परवर्ती युग के संस्कृत-काव्यों पर भी इन गाथाओ का प्रभाव देखा जा सकता है। प्राकृत की गाथाओं के साथ ही अपभ्रंश-साहित्य में लोकगीतो की परम्परा का अधिक विकास हुआ। कालिदास के विक्रमोर्वशीय मे लोकभाषा के एक गीत का सुन्दर उदाहरण भी मिलता है। 'मिरगानैणी' की भावना का वह प्रथम गीत है, जो आज के एक मालवी लोकगीत के अधिक निकट है।[1] बौद्ध-सिद्धो के गान एवं जैन कवियो के अपभ्रंश के दोहो मे आधुनिक लोकगीतो की विभिन्न प्रवृत्तियो के दर्शन होने लगते है। आज की गीतकथाओ का रूप गुणाढ्य की वृहद्कथा मंजरी मे बीज-रूपेण प्राप्त होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पद्यबद्ध लोककथाओ का श्रीगणेश यही से मानते है।[2]

इतना तो स्पष्ट है कि लोकगीत एवं गीतकथा की रूढ़ियो को अपभ्रंश काल के जैन कवि एवं प्रारम्भिक हिन्दी के कवियो ने ग्रहण किया है। लोकगीतो मे फाग एवं नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीतों के प्रचलन का प्रमाण ११वी शताब्दी से मिलने लगता है। वैसे चर्चरी गान की प्रथा का प्रचार तो सम्राट हर्ष के समय में भी था। बाणभट्ट ने एवं हर्ष ने 'रत्नावली' नाटिका मे इसका उल्लेख किया है। जिनरत्न सूरि ने भी चर्चरी गान सुना था।[3] उन्होने अपनी रचनाओ में लोकप्रसिद्ध चर्चरी-गान एवं रासक जाति के गीतो का सहारा लिया। चर्चरी उन दिनों बड़े चाव से गाई जाती थी। यह गीत वसन्तकालीन लोकगीत ही होना चाहिए जो नृत्य के साथ गाया जाता था। कबीर ने तो लोकगीत की इस पद्धति को अपनाकर 'चाँचर' नामक एक अध्याय

---

१. मइँ जाणिअं मिअलोअणि..................।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ५६। ३. वही पृष्ठ १०६।

ही बीजक में प्रस्तुत किया है। चर्चरी की तरह फाग जैसे लोकगीत की पद्धति को भी जैन कवियों ने अपनाया।[1] क्षेमेन्द्र ने ११वीं सदी में इस तरह के गान सुन रखे थे। दशावतार का वर्णन करते समय इन्हीं लोकगीतों का उन्होंने अनुसरण किया था।

हिन्दी के आदि काल से लेकर सूर और तुलसी के युग तक लोक गीतों की निम्नलिखित पद्धतियां प्राप्त होती है :—

[१] चाँचर [२] फाग [३] बधावा [४] सोहर
[५] मंगल काव्य (विवाह-गीत) [६] अचरियां (भजन)
[७] बनौरा-बनौरी (मालवी में 'बना-बनी') [८] गारी (गाली)
[९] कहरा [१०] हिंडोला [११]साखी [१२] बेली [१३] बिरहुली।

चॉचर एवं फाग का उल्लेख किया जा चुका है। 'बधावा'— मंगलमय प्रसंग पर गाये जाने वाले लोकगीत का नाम है। जन्म और विवाह के अवसर पर मालवा और राजस्थान मे बधावे आज भी गाए जाते है। बीसलदेव रासो में मंगलाचार, बधावे का उल्लेख आता है।[2] विवाह-गीतो की प्राचीन परम्परा के आधार पर कबीर एवं तुलसी ने अपने आस-पास के लोक-विनोदों और काव्य-रूपो को अपनाया होगा। तुलसी के 'जानकी-मंगल' एवं 'पार्वती-मंगल' तो प्रसिद्ध ही है। इनकी रचना लोकगीतो की पद्धति पर की गई है। मंगलकाव्य वस्तुतः विवाह काव्य है। इनकी परम्परा बंगाल में भी प्राप्त होती है। जान पड़ता है कि तुलसी के पूर्व इस प्रकार के मंगल काव्य बहुत लिखे जाते

---

१. पद्मसूरि ने 'थूलिभद्द फागु' एवं राजशेखर सूरि ने 'नेमिनाथ फागु' की रचना की।

२. घर घर गुड़ी उछली, हुवउ बधावउ नगरी धार।

थे।[१] कबीर के नाम से भी आदि मंगल, अनादि मंगल एवं अगाध मंगल काव्य मिलते हैं। पृथ्वीराज रासों के ४७वें समय में विनय-मंगल के रूप में विवाह-गीतों का कुश अंश विद्यमान है। आज के विभिन्न जनपदों में जानकी और पार्वती के विवाह-प्रसंग की कथा को चर्चित करने वाले जो लोकगीत 'ब्याहलौ', 'सुहागलौ' के रूप में प्रचलित हैं, उनका आदि-स्रोत भी वही है, जहाँ से तुलसी ने प्रेरणा ग्रहण की थी। कहीं-कहीं पर तो तुलसीकृत जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल' ने भी लोकगीतों की परम्परा मे अपना स्थान बना लिया है।

अचरियाँ–अर्चना के गीत है। इनका मूल स्तोत्र एवं स्तुतिगान ही हो सकते है। मैथिल-कोकिल विद्यापति ने शिव और गंगा की स्तुति मे नचारी की रचनाएँ की थी। सूर, तुलसी और कबीर के भक्ति-संबंधी पद अचरियो की पद्धति पर रचे गये है। जन-सामान्य ने इन्हें भजनो का स्वरूप प्रदान कर दिया। वैष्णव एवं सन्त कवियो की अधिकांश रचनाएं इसी कोटि में आती हैं। लोकगीतो की मौखिक परम्परा में आकर इनका साधारणीकरण हो गया है। बनौरा, गारी आदि विवाह के प्रसंग पर गाये जाते हैं। इस कोटि के लोक-गीतों का संकेत कबीर में मिलता है।[२] कबीर ने तो अपनी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण लोकगीतो की

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ १०३।

२. 'कबीरा बनौरी गावे'—बीजक, शब्द ८८।
'हो दारी ले देऊं तोहि गारी'—बीजक, शब्द १०२।
—विवाह के प्रसंग पर 'दारी' शब्द के सम्बोधन से मालवी में

शैली को अपनाने की सर्वाधिक चेष्टा की है। [1] कहरा, हिंडोला, साखी, बिरहुली आदि जिन पद्धति को उन्होने बीजक में अपनाया है, वे सब लोकगीतों की ही देन है। हिंडोला को सावन का वर्षाकालीन गीत कहा जा सकता है। झूलते समय हिंडोला गाया जाता है। साखी का छन्द दोहा है। सन्तो ने पूर्व पुरुषो के अनन्त अनुभवो को अपनी छाप लगाकर स्वोकार किया है। इस प्रकार कबीर-तुलसी सन्तो की साखियो में—दोहो में उपदेशात्मक एवं नीति-कथन की प्रवृत्ति आ गई है, किन्तु साखी आज भी लोकगीतों की एक पद्धति बनी हुई है। साखियों में जन-जीवन की विभिन्न अनुभूतियां प्रकट होती है। [2] लोक-गीतो के रूप मे साखी का प्रचार ब्रज और बुन्देलखण्ड में अधिक है।

सर्प के काटने पर उसके विष को उतारने के लिए जिस गीत का प्रयोग होता है, उसे 'ताखा' कहते है। बुन्देलखन्ड एवं ब्रज के काछी और कोली जाति के लोग आज भी सर्प का विष उतारने के लिए बिस-बेल के साथ 'ताखा' गाते हैं। ढाक (ढोलक जैसा कार्य करने वाला एक ताल-वाद्य) बजती रहती है और सर्पो का आवाहन किया जाता है—

---

१. बीजक के कहरा—११ मे लोकगीत-शैली का एक सुन्दर उदाहरण है, जिसमें ननन्द और भौजाई के झगड़े को आधार बनाया गया है—
ननदी गे तैं बिषम सोहागिन, ते निन्दले संसारा गे !
आवत देखि एक संग सूती, तैं ओ खसम हमारा गे !
—मिथिला प्रान्त में स्त्रियां परस्पर वार्तालाप में 'गे' सम्बोदन दिया करती हैं। उसी तरह मालव और राजस्थान में दरी या 'दारी' कहने की प्रथा प्रचलित है।

२. 'भदावरी लोकगीतों के कुछ आकर्षण' शीर्षक लेख में विस्तृत विवेचन किया गया है।

छोटे छोटे छौना नाग के हो···· नाग के हो।
निकरे ओस चाटा···· तो···· जाने मेरे फन में पग धरौ
पग धरत ही डस लये हो···· डस लये हो····तो
बदन गये कुम्हलाय···· तो ···· जाने मेरे फन पै पग धरौ
कौन दिसन के बायगी❀ हो···· कौन दिसन के मोर+[1]····

सर्प के काटे व्यक्ति को जिस समय लहर आती है, उक्त 'ताखा' ढाक की द्रुतगति के साथ गाया जाता है। जन-सामान्य की ऐसी धारणा है कि काले तक्षकवंशीय नाग ने यदि काटा होगा तो वह गीत की ध्वनि के वशीकरण में खिचता चला आवेगा। सम्भवतः तक्षक नाग के नाम से ही सर्प के विष उतारने का गीत 'ताखा' कहलाता है। कबीर के युग का 'बिरहुली' और आज के युग का 'ताखा' लोकगीतों के रूप में द्राविड़ों की नागपूजा की परम्परा को सुरक्षित किए हुए है।

कबीर आदि सन्तों ने जो भी लोकभावना के अनुकूल रचनाएं प्रस्तुत की हैं, उनमें उनका व्यक्तिपरक काव्य भी लीन हो गया है। वस्तुतः लोकगोतो के प्रभाव को मध्ययुगीन हिन्दी रचनाओं में व्यापक रूप से ढूंढा जा सकता है। सन्देस रासक, बीसलदेव रासो, ढोला मारू रा दूहा, आल्हा (परमार रासो) आदि रचनाएं तत्कालीन लोकगीतों एवं कथा-गीतों का विकसित एवं साहित्यिक रूप हैं। बीसलदेव रासो और आल्हा तो मानो गाने के लिये ही लिखे गये थे। इनकी मौखिक परम्परा आज भी जीवित है। 'ढोला' ने विविध जनपदों में गीतकथा का एक अलग

१. ग्राम सिकाटा (जिला भिण्ड) से प्राप्त एक लोकगीत।
❀ बायगी—विष उतारने वाला तांत्रिक।
+ मोर—सर्प के मस्तक की मणि।

ही स्वरूप ले लिया है। रीतिकाल एवं उसके पश्चात् लोकगीतों का लिखित सन्दर्भ कम ही मिलता है। मौखिक परम्परा में प्रचलित लोकगीतों में प्राप्य प्रमाणों के आधार पर ही मध्ययुग के जनजीवन से उस शृंखला को आबद्ध किया जा सकता है। लिपिबद्ध साहित्य एवं काव्य कला का अस्तित्व तो कागज एवं पुस्तकों में सिमट कर वर्गविशेष एवं युग-विशेष तक ही सीमित रहा है किन्तु लोकगीतों का अस्तित्व उसकी अन्तःशक्ति के कारण जनमानस पर अविच्छिन्न रूप से छाया ही रहता है। युग के युग काल की अनन्तता में भूत''''बीते हुए क्षण' बनकर समा गये, किन्तु लोकगीतों की अक्षुण्ण परम्परा में भूत, भविष्य और वर्तमान के लिये कोई विभाजक सीमा-रेखा नहीं बन सकी हैं। यही लोकगीतों की स्पन्दित सत्ता परम्परा से आबद्ध होकर भी चिर-नवीन है, शाश्वत हें, चिरन्तन है।

---

५ प्रकृति एवं जनमानस का तादात्म्य

प्रकृति मनुष्य के लिये सदा से ही एक रहस्य की वस्तु बनी हुई है। यहाँ प्रकृति शब्द का तात्पर्य दृश्य-जगत मे है। अंग्रेजी का "नेचर" शब्द प्रकृति के पर्यायवाची रूप में ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण मे प्रकृति का बड़ा व्यापक अर्थ लिया गया है। "समस्त बाह्य जगत को, उसके गोचर-इन्द्रिय प्रत्यक्ष की रूपात्मकता और उसमें निहित चेतना को प्रकृति माना गया है।"[१] यह एक व्यापक परिभाषा है। प्राचीन काल से ही प्रकृति दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मान्यताओं का मूलाधार रही है। कतिपय यूनानी मान्यताओं पर आधारित यूरोप के दार्शनिकों ने दृश्य-जगत, भौतिक "प्रकृति" को अधिक महत्व दिया। किन्तु भारत ने उसे एक चेतनामय तत्व एवं विराट् पुरुष की प्रतिकृति माना है। सम्पूर्ण बाह्य जगत की दृष्यात्मक सत्ता का कारण है भावमय चैतन्य प्रकृति जो विश्व की सृजनात्मक शक्ति एवं "अनन्तपुरुष" की चिर-सहचरी है। भारतीय दृष्टिकोण से मनुष्य भी व्यापक "विराट चेतना" का एक अंशमात्र है और यह विराट चेतना भौतिक जगत में, प्रकृति के जड़ और चेतन पदार्थों में देखी जा सकती है।

प्रकृति एवं जन मानस की तदात्मक स्थिति का अध्ययन करने के

---

१. डॉ० रघुवंश—"प्रकृति और हिंदी काव्य", पृष्ठ ४.।

लिये हमें वैज्ञानिकों के विकास-सिद्धान्त एवं भारतीय तथा अन्य आस्तिकों की अपौरुषेय सृष्टि-कल्पना एवं सर्वात्मवाद की मान्यताओं के प्रकाश में यथा-तथ्य विश्लेषण करना चाहिए। प्रकृति की सत्ता मानव के पंच-भौतिक शरीर में आकर एक चैतन्य स्वरूप धारण कर लेती है, जहां मन, बुद्धि और अहंकार की आधार शिला पर मानव के अन्तर्जगत का निर्माण होकर वह अमूर्त-लोक प्रतिष्ठित होता है, जो चर्म-चक्षुओं से अग्राह्य होकर भी नश्वर शरीर से परे अपनी शाश्वत सत्ता रखता है। भारतीय दार्शनिकों के विचार-मन्थन का यह सार-तत्व है। किन्तु बाह्य-भौतिक जगत के विकास के साथ ही मानव के मन-मस्तिष्क का विकास-क्रम भी विचारणीय है। अज्ञान की स्थिति में मनुष्य के लिये प्रकृति का वही स्वरूप नहीं रह सकता जो उसे ज्ञान की स्थिति में अनुभूत होता है। ज्ञान की विकसित अवस्था में मनुष्य प्रकृति के सहज, शाश्वत एवं प्रकृत तत्वों को अच्छी तरह पहिचान सकता है। प्रकृति के आंगन में माता की गोद के समान ही जब आदि-मानव ने जन्म लेकर अथवा मनुष्य शरीर को प्राप्त कर अपने चर्म-चक्षुओं से प्रकृति को देखा होगा, दृश्य-जगत के साथ ही अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में सोचने का "प्रथम विचार" उसके मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ होगा उस मनोस्थिति का यदि यथातथ्य विश्लेषण किया जावे तो मानव के चेतन-मस्तिष्क की प्रारंभिक स्थिति का किंचित आभास हो सकता है। उस समय मनुष्य ने प्रकृति के अनेक बदलते हुए परिवर्तित रूप देखे होंगे। वह प्रकृति के सम्पर्क में आया। उसने प्राची के क्षितिज पर गुलाबी रंगीन आभा देखी। उदीयमान सूर्य की स्वर्णरश्मियों को जल के वक्ष पर लहरियों के साथ आंदोलित होते देख वायु के झोकों से झूमती हुई वृक्षों की डालियों पर स्वयं की दोलन-स्थिति का अनुभव हुआ था। हिमाच्छादित पर्वतों के शिखरों ने, नदी, नद, झरनों, एवं अनन्त-अगाध जल-राशिवाले महासमुद्र ने भी उसे

आश्चर्यचकित किया। गगनलोक की दृश्यात्मक प्रकाशमान सत्ता ने उसे आकर्षित किया। रात्रि के गहनतम सूचीभेद्य अन्धकार की स्थिति में उसे भयाकुल भी होना पड़ा। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रो के दिव्य लोक ने तथा गगन में अठखेलियां करने वाली श्याम घटाओं ने भी उसे विस्मित कर दिया। संपूर्ण भूमंडल एवं विराट प्रकृति को कौतूहल भाव से देखकर उसके मन में उल्लास-भावना का उदय हुआ होगा।

प्रकृति के सौम्य, सुखद एवं मानव-जीवन के अस्तित्व में बाधा नही पहुँचाने वाले स्वरूप के साथ ही मनुष्य को उसके संहारकारी भयावह एवं रौद्र रूप का भी परिचय मिला। गम्भीर रहने वाले महासमुद्रों में हलचल उत्पन्न हुई और श्यामघटा प्रदर्शित करने वाले मेघखंडों ने घनीभूत होकर आंधी-तूफान एवं भीम-गर्जना के साथ जल-प्रलय की सृष्टि भी उपस्थित करदी। इस भयावह एवं विनाशकारी परिस्थिति मे मानव को स्वयं की स्थिति का कुछ आभास हुआ और उसने सोचा कि इस महान् एवं विराट् आतंक के सन्मुख उसकी शक्ति नगण्य-सी है। "यह सब" जो कुछ दिखाई दे रहा है, और "मैं" जो कुछ देख रहा हूं, क्या है ? उसके अन्तःकरण की भयमिश्रित कौतूहल भावना को प्रकृति की सर्व शक्तिमान सत्ता के सन्मुख स्वयं की सामर्थ्य-हीन सत्ता पर सोचने को विवश होना पड़ा और उसने सोचा कि इस दृश्य प्रकृति और दृष्टा को सृजित करने वाली तीसरी शक्ति अवश्य होना चाहिए जो इन सबका सूत्र संचालन करती रहती है। प्रकृति के परिवर्तनशील स्वरूप में मनुष्य ने "देवत्व" की कल्पना कर अपनी आत्मरक्षा के लिये विविध स्तवन एवं पूजोपचार का विधान भी रच दिया। इस प्रकार मानव ने अपनी चेतना के अनुभवजन्य आधार पर प्रकृति को समझने की चेष्टा की और प्रकृति के विभिन्न व्यापार, क्रिया-कलाप एवं नाना रूपों को अपने ही समान देखने और समझने की चेष्टा में भूल कर बैठा। ईश्वर को

मानवीय रूप में स्वीकार करना एवं अवतारवाद की कल्पना भी इसी आधार पर विकसित हुई।

भारतीय दार्शनिकों ने विश्व को जड़ और चेतन रूप में विभक्त कर पंच भौतिक तत्व की व्यापकता को स्वीकार किया है। काव्यकारो ने भी परम्परागत उक्त दार्शनिकधारा को प्रवाहित किया, किन्तु आज का वैज्ञानिक भाव-जगत के इस तत्व-चिन्तन को तर्क एवं सत्य की कसौटी पर उतार कर विश्लेषण करने को तैयार नही है। प्राचीन एवं मध्य-युग का सृष्टि के सम्बन्ध में जो द्वित्व-चिन्तन है वह विज्ञान के प्रकाश में अब अन्ध-विश्वास सा प्रतीत होने लगा है। वैसे मायावादियो के अनुसार पल-पल में परिवर्ति होने वाले "नश्वर विश्व" की मान्यता मे पदार्थवादी वैज्ञानिको के द्वारा सिद्ध इस सत्य का स्थूल रूप देखा जा सकता है कि प्राकृतिक शक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित की जा सकती है। "पदार्थ के सिद्धान्त" [१] एवं रसायन-शास्त्र के चरम विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि यांत्रिक एवं रासायनिक शक्ति एवं ताप, प्रकाश एवं विद्युत एक दूसरे के स्वरूप में परिवर्तित किये जा सकते है। ये प्रत्यक्षतः विभिन्न रूपों में दिखाई भी पड़ सकते है किन्तु ये सब एक ही शक्ति, प्रकृति की सर्वव्यापक शक्ति के अंश है। प्राकृतिक तत्वों का स्वरूप बदल सकता है किन्तु शाश्वत् गुण नही बदल सकते। [२] परिवर्तन तो सृष्टि-विकास का एक चिर-जीवित सत्य है। हमारे चर्म-चक्षुओं से दृष्टव्य विश्व में परिवर्तन तो होता ही रहता है। हिम को हम पिघलते

१. Law of Substance से तात्पर्य है।

२. Earnst Haeckel–The Riddle of the Universe. Chap. the Unity of the Nature, page 208.

हुए देख सकते हैं, लकड़ी भी अपना स्वरूप बदल देती है, पानी ग्रीष्म के चरम उत्ताप में भाप और बादल बन सकता है, लकड़ी और कोयला जलकर राख हो जाते है। परिवर्तन की इन गतिविधियों का हम अपनी स्थूल दृष्टि से देख सकते हैं किन्तु कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जिन्हें हम चर्म-चक्षुओंसे देख नही पाते किन्तु उनमें परिवर्तन तो प्रतिक्षण होता ही रहता है। कठोर चट्टानें; भूमि, मिट्टी और रेत के कणों में बदलती रहती है। पृथ्वी और वायु के पदार्थ हरी-हरी दूर्वा बन जाते है। हमारे चारों ओर दृष्टिगत होने वाली प्रकृति में निरन्तर, कभी न रुकनेवाला परिवर्तन होकर नवीन स्वरूप का निर्माण ता होता हो रहता है।[1] इस प्रकार संसार के परिवर्तनशील एवं विकासमय स्वरूप का सही ज्ञान हो जाने के पश्चात् प्रकृति से परे किसी अन्य सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नही किया जाता। जीवविज्ञान एवं डार्विन के विकास-सिद्धान्त ने सावयवी जगत-सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाकर पुरातन दार्शनिकों के द्वारा उत्पन्न "वास्तविकता एवं आभास, मनस् एवं शरीर, अन्तः एवं वाह्य, वस्तु एवं गुण, अनन्त एवं सान्त, ईश्वर एवं जगत आदि के द्वैतभाव का उन्मूलन कर दिया है।" उक्त द्वैत-भावना अब काल्पनिक जगत की वस्तु बनकर रह गई। प्रकृति में व्याप्त बाह्य अनेकात्मकता होते हुए भी उसकी एकात्मकता विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुकी है। आधुनिक युग की यह विशेषता है कि उसने द्वैतभाव को विज्ञान की विभिन्न कसौटियों पर परख कर यह सिद्ध कर दिया है कि वस्तुजगत एवं चेतन शक्ति एक ही शाश्वत प्रणाली के दो विभिन्न पहलू हैं। सावयवी सृष्टि का विकास निरावयवी सृष्टि से हुआ है। यह आवश्यक है कि पशु-जगत, वनस्पति और पेड़-पौधों

---

१. "Chemistry and Human affairs" Page 13- Price and Bruce.

में विविध, नानारूपात्मकता एवं वर्ण-वैचित्र्य दृष्टिगत होता है, किन्तु यह प्रकृति की विभिन्न परिस्थितियों का परिणाम है कि विभिन्न रासायनिक पदार्थों का मिश्रण पेड़-पौधे एवं जीव जन्तुओं की भिन्न-भिन्न रंग-वैचित्र्य-पूर्ण सृष्टि का निर्माण कर सके ।

विकास-सिद्धान्त की कसौटी पर सृष्टि-सम्बन्धी चिंतन करते समय यहाँ भारतीय पुराणकारों की कल्पना की शाश्वत सत्यता पर सहसा आश्चर्य होने लगता है । हिन्दू यह मानते है कि चौरासी लाख योनियों मे भटकने के पश्चात् ही जीव को मानव शरीर प्राप्त होता है । बौद्ध जातक कथाओं में भी इस मत की पुष्टि की गई है । विकास-वाद ने हमें यह बतलाया कि सृष्टि को निम्नतम 'Species' की साधना एवं अस्तित्व-प्रस्थायन के दुर्धर्ष संघर्ष का चरम प्रतिफलन ही तो मनुष्य है । पौराणिक कल्पना एवं विकास सिद्धान्त का सत्य यहाँ एकाकार हो जाता है । यह बात अवश्य है कि आज का वैज्ञानिक चौरासी लाख जीवो की संख्या की जानकारी तक नही पहुँच सका और कुछ लाख तक पहुँच कर ही सीमित रह गया है ।

स्थूल एवं गोचर जगत की सत्ता के पश्चात् आन्तरिक तत्व एवं मस्तिष्क की विभिन्न विचार धाराओं के विकास-प्रवाह पर सोचना भी आवश्यक है । इस अन्तः सत्ता अथवा चेतन शक्ति को लेकर आस्तिक दर्शनकारों, धर्मगुरुओं और विज्ञान के क्षेत्र में विरोध उत्पन्न होता है । आस्तिक दर्शनकार किसी अनन्त-शक्ति, विश्वेतर-शक्ति की कल्पना कर उसके अस्तित्व में विश्वास करते हैं किन्तु भौतिक शरीर की तरह मानव का मस्तिष्क एवं चेतना शक्ति का आधार भी विकास सिद्धान्त पर परखा जा सकता है । जिस प्रकार भौतिक प्रकृति गतिशील है उसी तरह मन–मस्तिष्क की विचारधाराएं भी प्रवाहमान एवं विकासमय है । विकास

का यह क्रम एवं अन्तर वनस्पति जगत्, प्राणी जगत एवं मनुष्य में स्पष्टतः देखा जा सकता है। मानव-मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है, उसका "सेरेब्रम" इतना विकसित है, आज का मनुष्य ही नहीं क्रोमेग्नन् और ने-अन्डर्थल का भी—कि वह सोच सकता है, विश्लेषण कर सकता है। भविष्य को अनिश्चित छोड़ना अपने उसी मस्तिष्क की बनावट के कारण उसके लिये मुश्किल है। मानव मस्तिष्क के विकास में उसके शरीर के दूसरे अंगों ने भी पूरी सहायता की है।[1] मनुष्य के मस्तिष्क का विकास पशु एवं वन-मानस और कुत्ते आदि समझदार पशु के मस्तिष्क-विकास के आगे की चरम स्थिति है। वन-मानस एवं कुत्ते आदि सामने की वस्तु के प्रतिबिम्ब को देखकर मस्तिष्क से कुछ सोचने की क्षमता अवश्य रखते हैं, किन्तु उनका सोचना वर्तमान के प्रकाश में ही होता है। मनुष्य अग्रसोची होता है। पशु प्रकृति के साथ संघर्ष अपने वर्तमान, केवल वर्तमान के अस्तित्व को कायम रखने के लिये करता है और उसके जन्मजात साधनों का इस्तेमाल करता है, किन्तु मनुष्य वर्तमान स्थिति के साथ ही अनुभव-जन्य ज्ञान के कारण भविष्य के लिये भी उपाय सोच लेता है।[2] मानव मस्तिष्क आविष्कारों का अनन्त स्रोत है। उसमें से न जाने कितनी ही वस्तुएं निकली होंगी जो आज की दुनिया में तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य भले ही प्रतीत हों किन्तु मानव के मस्तिष्क-विकास के इतिहास में उनका महत्व है। आदि-मानव के मस्तिष्क से ही आज के अणु-युग के मानव का मस्तिष्क विकसित हुआ है। आज का मानव यद्यपि आदिमानव तो नहीं है, किन्तु उसकी आकांक्षाएं आज के मानव में अभिव्यक्त हो चुकी हैं,

---

१. राहुल, मानव समाज, पृष्ठ २५।

२. राहुल, विश्व की रूपरेखा, पृष्ठ ३२८, ३३१।

जिसका बीज आदिमानव के मस्तिष्क में विद्यमान था [1] और आज भी मानव-मस्तिष्क के विकास की यह चरम स्थिति नही कही जा सकती। भविष्य की कल्पना हम वर्तमान के आधार पर अवश्य कर सकते है। मानव की आकांक्षाओ का स्रोत कहाँ जाकर समाप्त होगा यह कहना कठिन है।

विकास में निम्नस्तर की आकांक्षाओं का पूर्णत्व ही तो ऊपर की सीढ़ी माना जावेगा। निम्न स्तर (Lower Species) में निहित भावना उच्चस्तर के जीवो मे जाकर अभिव्यक्त होती ही है। मानव का विकास पशु-जगत से हुआ है अतएव पशुजगत एवं मानव की भावना और प्रवृत्तियो में साम्य एवं तादात्म्य होना स्वाभाविक ही है। [2] इस कल्पना को यदि और आगे बढ़ाया जावे तो विकास-सिद्धान्त के अनुसार अचेतन जड़ सृष्टि से ही वनस्पति, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी एवं मानव की सृष्टि का विकास हुआ है। अतः मानव अपनी भावनाओं का उद्रेक करनेवाली वस्तुओ को फूल, पेड़-पौधे एवं पशु-पक्षी आदि मे जहाँ कही भी देखेगा, उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना नही रह सकता, क्योकि उसकी भावनाओ का उस आकार-प्रकारमयी, ध्वनि-नादों से समन्वित, गतिमान सृष्टि से, प्रकृति से परम्परा-प्राप्त एवं वंशानुगत वासना के रूप में सम्बन्ध निहित है। प्रकृति की ओर जन-मानस का आकर्षित होना सहज

---

१. History of Modern Philosophy–by Hoffding vol. 2nd P. 180-81.

–हिगेल के द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद के विवेचन के आधार पर।

२. "The pulse of existence itself beats in our thinking with the same rhythm, moreover as every-where else....(–वही)

वृत्ति ही कहा जा सकता है। जनमानस का प्रकृत्ति से तादात्म्य होता है, इसका यही तात्पर्य है कि प्रकृति जहाँ-जहाँ अपनी उच्चतम आकांक्षाओ को साधना के उच्चतम सौन्दर्यमय रूप में प्राप्त कर रही होगी वही जनमानस का तादात्म्य होगा। मनुष्य अपने मानस की भावनाओं का प्रस्फुटन जब प्रकृति में देखता है तब उसमें एकात्मकता का अनुनव कर लेना उसके लिये स्वाभाविक हो उठता है। किसी हरी-भरी लता की क्रोड़ में खिले हुए, मुस्कराते हुए पुष्प की ओर मनुष्य एकदम आकर्षित हो जाता है। यहाँ नयनाभिराम वर्ण-सौन्दर्य अथवा घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करने वाली सुरभि ही केवल आकर्षण का कारण नही है। पुष्प का अस्तित्व ही स्वयं आकर्षण का विषय बन जाता है। मानव का मन-"सुमन" से एकात्म हो जाता है। मानव मन का भाव "सुमन" बन जाता है। सुमन अथवा पुष्प से तात्पर्य क्या हो सकता है ? पुष्प वृक्ष अथवा लता की जीवन साधना का सुन्दर सुगन्धित स्वरूप ही तो है जिसमें फल के रूप में उसका पूर्ण विकास अभिव्यक्त होकर बीज के रूप में अपनी शाश्वत सत्ता एवं वंश-विस्तार का रहस्य छिपाये बैठा है।

मानव की मानसिक प्रवृत्तियों के विकास का कुछ आभास मिथ युग में स्पष्ट हो जाता है। उस समय की मानवीय चेतना प्रकृति के [1] सचेतन क्रोड़ से मनस् की सचेतन स्थिति में प्रवेश कर चुकी थी। उसके पश्चात् प्रकृति के विभिन्न रहस्यों को समझने की ओर धीरे-धीरे जागरूक हुई और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर पंच ज्ञानेन्द्रिय से निसर्गसिद्ध रूपरंग एवं गंध, ध्वनि, प्रकाश एवं स्पर्श आदि पंच-भौतिक तत्व के गुणों की ओर आकर्षण हुआ। सहजवृत्ति के कारण मनुष्य के मानस में संवेदनात्मक स्थिति का निर्माण हुआ। वैसे इन्द्रिय-वेदन की सहज एवं

१. डॉ० रघुवंश, प्रकृति और हिन्दी काव्य।

एकांगी वृत्ति का स्वरूप हम कीट पतंग, भ्रमर एवं मृग आदि जीवधारियों में भी देख सकते है। कीट-पतंगों का ज्योति-ज्वाल के प्रति, भ्रमर का सौरभ एवं मधु-मकरन्द के प्रति, सर्प एवं हरिण का ध्वनि-नाद के प्रति और मछली की स्पर्श आदि रागात्मक प्रवृत्तियाँ मानव की सहज वृत्तियों की तरह ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य में उक्त सभी प्रवृत्तियाँ एक साथ सजग रहती है और मानवेतर प्राणियों में उसका एकांगी रूप ही देखा जा सकता है। आदिमानव की प्रवृत्तियाँ किसी बाह्य प्रेरणाओं से प्रभावित होकर ही संवेदनात्मक स्थिति में आई होगी। वह उन्ही प्रेरणाओ को ग्रहण करता होगा जिनके द्वारा उसके जीवन के स्वार्थ बंधे हुए होगे। मनुष्य जैसे-जैसे अधिक विचारशील होता गया उसकी चिर-सहचरी प्रकृति के विविध रूपों ने उसके मानस में आकर्षण की एक अमिट छाप अंकित कर दी। झरनो का कल–कल नाद, पक्षियो कलरव, चातक एवं कोकिल के कंठ से निसृत मधुर रागिनी, मयूर का रूप-सौन्दर्यमय आकर्षण एवं नृत्य आदि मनुष्य के लिए भी आकर्षण एवं प्रेरणा के विषय बन गये। विवाह के पूर्व (Courtship) का प्रणयाकर्षण एवं सहगमन की प्रवृत्ति मानवेतर प्राणियो में भी पाई जाती है। मयूर की वाणी वर्षा के समय मानव-हृदय में कवि परम्परा के अनुसार रागात्मक भावना उत्पन्न कर सकती है, किन्तु मयूर स्वर–सौन्दर्य का प्राणी नही अपितु रूप–सौन्दर्य की अनुपम सृष्टि है। वह अपनी मयूरी को गीत अथवा स्वर-माधुर्य के द्वारा नही अपितु वर्ण–सौन्दर्य एवं नृत्य के द्वारा आकर्षित करता है।[1] कौन जाने मयूर के नृत्य ने ही मानव को आनन्द-विभोर स्थिति में नृत्य करने की प्रेरणा दी हो। वैसे

---

१. L. R. Brighwell–'The Animal Kingdom', Pege 131, 137, a chap. "The miracle of life".

केकड़ा और मकड़ी भी अपने स्त्री साथी को आकर्षित करने के लिये नृत्य करते है।[१] किन्तु मनुष्य का ध्यान उनके प्रणय नृत्य की ओर न जाकर मकड़ी द्वारा, "जाला" बुनने एवं गृह-निर्माण की विचित्रता पर आकर्षित हुआ। इस तरह चंद्र एवं चकोर, दीप एवं पतंग, मेघ एवं चातक अनन्य अनुराग एवं प्रेम के प्रतीक बन गये।

मनुष्य ने अपनी साधना के उच्चतम स्वरूप को तीन प्रकार से अभिव्यक्त किया है। "सत्यं शिवं और सुन्दरम्" चाहे काव्य और दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो किन्तु प्रकृति में मनुष्य को जहाँ भी इनका आभास मिल जाता है, वह उनकी ओर बरबस खिच ही जाता है। सत्यं वैज्ञानिकों एवं दार्शनिको के लिये आकर्षण की वस्तु हो सकता है किन्तु शिवं एवं सुन्दरम् से जन सामान्य का सम्बन्ध है। रागात्मक प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर मनुष्य प्रकृति के सुन्दर स्वरूप की ओर आकर्षित अवश्य होता है किन्तु शिवं का तत्व आज तक सौन्दर्य की भावना को दबाता चला आ रहा है। शिवं हितकरं की भावना धार्मिक रूढ़ि बन कर रह गई और मनुष्य ने केवल अपने हित के लिये प्रकृति के सौन्दर्य को विनष्ट करने में कभी संकोच नही किया। बुद्धि एवं ज्ञान के वैभवमय चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाने के पश्चात् अपने सुख और आराम के लिये मनुष्य पशु–पक्षी एवं प्रकृति के इतर सौन्दर्य के प्रति अधिक विनाशक एवं शोषणपूर्ण प्रवृत्तियों की ओर झुक रहा है। आदि-मानव की तरह मनुष्य की क्रूरता और कठोरता मे किसी तरह का अन्तर नही आ सका है। प्रकृति के अन्य जीवों के प्रति उसका आकर्षण भोगवाद-उपयोगितावाद पर आधारित है। वैज्ञानिक युग का मानव यंत्रों का दास होने पर भी भोजन,

---

१. वही,

वस्त्र, शृंगार एवं स्वास्थ्य-प्रसाधनों के लिये पशु-पक्षियो पर निर्भर रहता है। भावनाओं के स्पन्दन की चरमता में जब कभी भी मनुष्य के हृदय में 'सुन्दरम्' के प्रति सात्विक आकर्षण जाग जाता है तब पशु-पक्षी एवं प्रकृति के अन्य उपादानो के प्रति कलात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप हमें दर्शन, धर्म, चित्रकला एवं लोक-साहित्य में यत्र-तत्र देखने को मिल जाता है। परन्तु मनुष्य अपनी स्वार्थमयी भावना को कभी त्याग नही सकता। वह दूध देती गाय की माता के रूप में वन्दना करता है। उसके पुत्रों द्वारा कृषि-उद्योग में लक्ष्मी को प्राप्त करता है। किन्तु मांसभक्षण एवं चमड़े की आवश्यकता के लिये उसने गोवध करने मे कभी संकोच नहीं किया। प्राचीन काल से ही मनुष्य बैल और अश्वो को यातायात के साधन के रूप में काम में लेता आ रहा है किन्तु धर्म के नाम पर उनकी बलि चढ़ा देना भी कर्म-काड प्रवीण ब्राह्मणो के लिये एक सामान्य बात थी। अश्वमेध एवं गौमेध जैसी हिंसात्मक क्रूरता को भी पण्डितों ने धार्मिक आवरण मे कितनी चतुराई के साथ छिपाया। किन्तु स्वार्थ की यह स्थिति मानव-मस्तिष्क का शाश्वत स्वरूप नही बन सकती। आत्मसंरक्षण के लिये क्रूरता की सहज वृत्ति जागृत होती है, वहां वासना अथवा संस्कार-रूप मे मदुल भावों की व्यंजना के लिये भी स्थान है। मानव की चेतन प्रकृति स्वभावतः सौन्दर्योन्मुखी है। सौन्दर्य के प्रति वह अपना मोह प्रदर्शित नही करेगा, यह असंभव है। प्रकृति के साथ साहचर्यजन्य वासना को वह दबा नही सकता, प्रकृति का व्यापक विस्तार और उसका नाना रूपात्मक सौन्दर्य मनुष्य की स्वानुभूति का विषय बन जाता है। परिवर्तन और गति की अनन्त चेतना में मग्न प्रकृति युगों में मानव जीवन से हिलमिल गई है। मानव उसकी क्रोड़ में विकसित हुआ है। प्रकृति के युग युग के परिचय का संस्कार उसमें साहचर्य भाव

के कारण सुरक्षित है।[1] इसी मूल संस्कार अथवा वासनाके कारण मनुष्य प्रकृति के समक्ष अनुभूतिमय होकर भावों का तादात्म्य स्थापित करता है। प्रकृति में मानव-सौन्दर्य प्रदान करने की प्रवृत्ति अथवा प्रकृति का मानवीकरण मनुष्य की शेष सृष्टि के साथ रागात्मक तादात्म्य स्थिति कही जा सकती है। जनमानस में यह सौन्दर्यभावना पहिले जागृत हुई और जड़-चेतन में भावनाओं का आदान-प्रदान कर प्रकृति को मनुष्य ने अपने सुख के साथ हँसाया और दुःख के साथ अश्रुमय स्वरूप भी प्रदान किया। तल्लीनता की इस भावना का प्रारम्भिक एवं स्थूल रूप हमें लोकगीतों में प्राप्त होता है जहाँ प्रकृति के मानवीकरण की भावना में मानवेतर सृष्टि के साथ ही वनस्पति जगत्, पशु-पक्षी एवं अन्य जीव जन्तुओं में आचार एवं व्यवहार साम्य स्थापित हो जाता है। कवि जनमानस की इसी सुखानुभूति को कल्पना की गम्भीरता से सौंदर्य के उच्च धरातल पर कलात्मक आनंद की सृष्टि करता है।

---

१. डॉ० रघुवंश, प्रकृति और हिन्दी काव्य, पृष्ठ २०८

६ | कबीर आदि सन्तों का लोकगीतों पर प्रभाव

भारतीय तत्व-चिन्तन की प्रवृत्ति व्यक्ति-परक होने के कारण एकांत-निष्ठ ही अधिक रही है। समाज के प्रति निरपेक्ष रह कर स्वयं के मोक्ष की चिन्ता करने वाला साधक या विचारक समस्त प्राणियों के लिये समभाव रखकर भी जन-जीवन की जटिल समस्याओं के प्रति तटस्थ ही रहा है। सह-जीवन, सह-अस्तितत्व एवं सह-चिन्तन का स्वरूप हमें केवल ऋग वैदिक युग में प्राप्त होता है। वहां व्यक्ति की समस्त आशा और आकांक्षाएँ समष्टि में लीन होकर अभिव्यक्त होती थी। भौतिक जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं से लेकर अनिष्ट-निवारण एवं वैभव-सुख समृद्धि की कामनाएँ भी सामूहिक रूप में ही प्रकट हुई हैं। उस युग के व्यक्ति ने अपने लिये कुछ नही मांगा। समाज के सुख-दुःख में मानों उसका व्यक्ति-भाव उभरने की स्थिति तक ही नही पहुँच सका।

वैदिक युग के पश्चाद् भारतीय समाज व्यवस्था में वर्णाश्रम की प्रस्थापना एवं ज्ञान-चिन्तन की जटिलताओं ने व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष की सत्ता, महत्ता, और अस्तित्व को उभरने का अधिक अवसर दिया। कर्तव्य-निर्वाह एवं धर्मपालन की सीमा-रेखाओं ने समस्या का रूप धारण किया। व्यक्ति और वर्ग-विशेष के लिये आचार-संहिताओं का निर्माण किया गया। 'पर-उपदेश कुशल बहुतेरे' की चरम स्थिति के साथ ही

ज्ञान–विज्ञान एवं जीवन धारण करने में सहयोग देने वाले समस्त प्रसाधनों पर भी बुद्धिवादी कहलाने वाला वर्ग हावी होगया। ज्ञान की उन्मुक्त, अनन्त राशि भी शास्त्रों में सिमट कर सर्व-साधारण के लिये दुर्लभ होगई। ऊँच–नीच, कुलीन–दास, धनी–निर्धन एवं ब्राह्मण–अब्राह्मण आदि के विभेद में मानवता का विभाजन हो गया। कबीर आदि सन्तों के आविर्भाव के पूर्व कुछ तो सामाजिक कारणों से एवं कुछ राजनीतिक कारणों से भारत में साधारण जनता की उपेक्षा इस चरम पर पहुँच चुकी थी कि निम्न–कोटि की जातियो के लिये अभिजात्य संस्कृति में मानो कोई स्थान नही था। भारतीय मनीषियों की अतुल ज्ञान–सम्पत्ति पर केवल संस्कृतज्ञ विद्वानो का आधिपत्य था। साधारण जन अपनी लोक-यात्रा में जिज्ञासा की तुष्टि के लिये आतुर अवश्य था, किंतु पाण्डित्य के गर्व एवं शास्त्राभिमानियों के अहं के सम्मुख उनको दब जाना पड़ता था। ज्ञान, विज्ञान एवं सांस्कृतिक विकास से आज का हरिजन कहलाने वाला वर्ग वंचित ही था। ज्ञान, ब्रह्म, आत्मा–परमात्मा एवं जीवन-व-जगत के रहस्यों को जानने का स्रोत केवल संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य था जिसका स्पर्श साधारण जन के लिये दुर्लभ था। संस्कृत तो शूद्रों के लिये वर्जनीय थी। कबीर आदि सन्तों ने ज्ञान के एकाधिकार पर प्रथम बार व्यापक रूप से प्रहार किया और यही कारण है कि १३ वीं शताब्दी से लेकर सन्त गाँधी के युग तक भारत की अस्सी प्रतिशत जनता की भावनाओं के स्पन्दन को स्पर्श करनेवाली परम्परा का यदि कोई अस्तित्व रहा है, तो वह सन्तों की वाणी में निहित है।

निर्गुणी मत के प्रवर्तक कबीर ने साधना के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं धर्मग्रन्थों के अन्धानुकरण की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्व दिया है। कबीर अपने युग के एक निर्भीक एवं स्पष्टवादी नेता थे। सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने द्वैत भाव के विरोध में प्रबल

विचारधारा के द्वारा जहां एक ओर पुराण पंथी लोगों की द्वैत, ऊँच नीच, कुलीन–अकुलीन आदि भावनाओं को चुनौती दी है, वहाँ निम्न वर्गीय शत-सहस्त्र जनता को मानव धर्म का सहारा देकर उसका अडिग विश्वास भी प्राप्त किया है। कबीर की वाणी के रूप में, उनके उपदेशों के रूप में आज जितना भी लिपिबद्ध एवं लिखित साहित्य उपलब्ध है, उससे कही अधिक एवं व्यापक साहित्य मौखिक परम्पराओं में बिखरा पड़ा है। कबीर के आध्यात्मिक विचार एवं उनका तत्व-चिन्तन विद्वानों के लिये अध्ययन वस्तु बनकर पुस्तकों तक ही सीमित है, किन्तु जनमानस पर अंकित कबीर का श्रद्धामय स्वरूप आज भी लोकवाणी में मुखरित होता रहता है। कबीर ने युगों से उपेक्षित निम्न-वर्ग की हृदयगत भावनाओं को को बौद्धिक स्वरूप प्रदान कर हीनत्व की भावना से मुक्त किया है। कबीर के पश्चाद् रैदास, सेन नाई, पीपा भगत, धन्ना जाट आदि सन्तों के उपदेश भी लोकोन्मुखी धारा को लेकर चले। लोकगीतों के रूप में आज भी ग्रामों की अपढ़ जनता की मौखिक परम्परा में सन्तो की वाणी जीवित है। यह एक महत्व की बात है कि ये सन्त अपने-अपने प्रदेशों की विभिन्न बोलियों के बोलने वाले थे किन्तु उन्होंने जन भाषा हिन्दी के द्वारा ही अपने विचार जनता तक पहुँचाये। अभी तक जिस ज्ञान-सम्पत्ति पर पंडितों का ही अधिकार था और 'संस्कृत के कूपजल' से सामान्य जन की ज्ञान-पिपासा शांत नहीं हो पाती थी, कबीर ने उसे सर्वसुलभ बनाकर, 'भाषा के बहते नीर' से युग-युगों की प्यासी जनता को शान्ति प्रदान की। इसके साथ ही उन्होने एक अडिग आत्म–विश्वास भी जागृत किया। ब्राह्मण से लेकर शूद्र कही जाने वाली विभिन्न जातियों में तत्व-चिन्तन की प्रवृत्ति का निर्माण हुआ। जुलाहा, चमार, नाई, जाट, गूजर अहीर जातियों ने भी ऐसे हो संतों को जन्म दिया जो ज्ञान-गरिमा की दृष्टि से किसी पंडित से कम नहीं थे। इन सन्तों ने स्वभावतः जातिगत

घृणाभाव की उपेक्षा कर मानववादी दृष्टिकोण अपनाया। इनकी व्यावहारिक साधना का फल यह हुआ कि अनेक युग बीत जाने पर भी जनता कबीर आदि सन्तों को भूल नहीं सकी। आज भी निम्न वर्ग की विभिन्न जातियों पर सूर आदि वैष्णव कवियों की अपेक्षा कबीर की निर्गुणधारा का प्रभाव ही अधिक है।

मालव एवं राजस्थान की साधारण कृषक-जनता एवं निम्न-वर्ग के लोगों में कबीर आदि सन्तों का प्रभाव स्थूल रूप से व्याप्त है। इस तथ्य से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सन्तमत के कवियों ने परमतत्व, सत्य का अनिर्वचनीय स्वरूप, सृष्टि-चिन्तन, माया-तत्व, आत्म तत्व, सुरतियोग, कुण्डलिनीयोग, ध्यान, धारणा एवं समाधि आदि के गूढ़ रहस्यों को प्रकट किया था, उनको समझने में साधारण जन असमर्थ रहता है। मालवी जनता केवल कबीर का नाम भर जानती है, किन्तु जनजीवन की सामान्य अनुभूतियाँ भी कबीर की साक्षी का आवरण लेकर प्रकट होती रहती है। 'कहत कबीरा सुनो भाई साधो' की पंक्ति को लेकर अनेकों अज्ञात व्यक्तियों ने अपने हृदय के भक्तिपूर्ण विचार प्रकट किये। यहाँ कबीर आदि सन्तों की वाणी का साधारणीकरण होगया है। लोकगीतों के क्षेत्र में एक कबीर ने अनेक कबीरों को जन्म दिया है। किन्तु उपदेश देने वाले लोकगीतों के अज्ञात रचयिता तो प्रच्छन्न रहे और युग-भावनाओं को मुखरित करने में प्रसिद्ध सन्तों का नाम ही सहायक होता रहा। मालवी लोकगीतों में ऐसे सैकड़ों भजन सुनने को मिलते हैं, जिनमें कबीर के नाम की छाप तो रहती है किन्तु इन रचनाओं का कबीर के मौलिक साहित्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। कबीर की विचार धारा को, उनके उपदेशों को जनता ने अपने ढंग से अपनाया है।

कबीर का प्रभाव मालवी लोकगीतों पर अनेक रूपों में देखा जा

सकता है। कबीर ने संसार की नश्वरता, माया और लोभ का त्याग, नाम स्मरण, एवं जीवन के सामान्य नैतिक पक्ष को लेकर अनेक उपदेश दिये हैं। मालवी गीतों के अन्तर्गत कबीर की भावनाओं को प्रकट करने वाले दो प्रकार के गीत प्राप्त होते हैं—

१. पन्थीड़ा के गीत

२. मसाण्या गीत (नारदी भजन अथवा मृत्यु गीत)

पंथीड़ा के गीत

श्रद्धालु एवं धार्मिक जनता की यह सामान्य प्रवृति रहती है कि किसी भी एक धार्मिक महापुरुष के नेतृत्व में विश्वास रखकर स्वयं को एक संयुक्त परिवार का सदस्य समझने लगती है और अपनी सामुदायिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न भी करती है। कबीर के सिद्धान्तो में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों ने जिस प्रकार कबीर पंथ को जन्म दिया, उसी प्रकार अन्य धर्म-प्रचारकों का ध्यान भी अपने पंथ को प्रवर्तित करने की ओर प्रेरित हुआ। फलतः उत्तर भारत में लाल पंथ, दादू पंथ, मलूक पंथ आदि प्रचलित हो गये।[1] निर्गुण उपासना के दार्शनिक दृष्टिकोण में एकता होते हुए भी साधना-सम्बन्धी विभिन्नताओं ने पंथ निर्माण की प्रवृति को सजग किया। यह सम्भव है कि विभिन्न पंथों का जन-सामान्य के प्रति अलग-अलग आकर्षण रहा हो, किन्तु कालान्तर में जन-मानस में पंथ की धार्मिक भावना स्थूल रूप से टिक सकी एवं उसके विभेद प्रायः लुप्त हो गये। निर्गुणी संतों के विभिन्न भजनों एवं उद्देश्यों का प्रभाव जनता पर अमिट रूप से अंकित रहा है, और कबीर-दादू आदि संतों की भावनाओं के आधार जनता ने अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को प्रकट करने के लिए जिन गीतों का निर्माण किया है,

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृष्ठ ३८६, ८७।

वे लोकगीतों की परम्परा में आज भी सुरक्षित हैं। यह सम्भव है कि निर्गुण पंथ के आदि प्रवर्तकों की वाणी और उपदेशों का प्रभाव शनैः-शनैः क्षीण होता गया, और उनके शिष्यों द्वारा व्यक्तिशः रचे गये गीतों ने लोकगीतों का स्वरूप ले लिया। निर्गुण सम्प्रदाय की भावनाओं को प्रकट करने वाले लोकगीतों को मालव में पंथीड़ा के गीत या भजन कहते हैं। अभी तक के संकलित गीतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पंथीड़ा के इन गीतों में कबीर का प्रभाव स्पष्ट होकर अलग ही मुखरित हो उठता है।

इन लोकगीतों में निर्गुण पंथ की निम्नलिखित प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं :–

१. गुरु····सत् गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा।

२. पंच-तत्वमय विश्व की सृष्टि।

३. आत्मा का स्वरूप।

४, आत्मा एवं परमात्मा का मिलन।

५. संसार की नश्वरता।

६. जीवन का उद्देश्य।

संत मत में गुरु के महत्व को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होने पर मनुष्य की अज्ञान-जन्य स्थिति परम तत्व तक पहुँचने में बाधक होती है, और साधक हृदय में प्रेम और तप—साधना का अपार उल्लास लेकर भी इष्टसिद्धि तक नही पहुँच पाता। ज्ञान का सद्मार्ग बताकर ईश्वर तक पहुँचाने का 'गुर' बताने वाले किसी ज्ञानी की प्रत्येक जिज्ञासु को आवश्यकता रहती है। कबीर ने गुरु की अनन्त महिमा का इसलिये गुणगान किया कि उनके अभाव में ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है। कबीर गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्व प्रदान करते

हैं।[1] गुरु ही अज्ञान एवं मूर्ख मनुष्य को देवत्व प्रदान करने की क्षमता रखता है।[2] पंथीड़ा के लोकगीतों में परम्परा के अनुसार गुरु के 'गुणगान किये गये हैं कि आत्मस्वरूप की वास्तविकता का ज्ञान सद्गुरु ने ही प्रदान किया और तब यह अनुभव हुआ कि ईश्वर तो सर्व-व्यापी है, घट घट में रमा हुआ है।[3] सदगुरु के ज्ञान की ज्योति अपार है, वह स्वयं ही ब्रह्म के समान है। जैसे मणि स्वयं प्रकाशमान होकर जगत की अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार गुरु भी ज्ञान की अनन्त ज्योति प्रदान कर शिष्य को ईश्वर के समान बना देता है।[4] कुछ गीतों में परब्रह्म को सद्गुरु की संज्ञा प्रदान की गई है। उस अनन्त

---

१. सतगुरु की महिमा अनन्त अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघाड़िया अनन्त दिखावन हार॥

कबीर ग्रन्थावली, साखी क्रमांक ३।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागू पांय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

सं० बा० स० २।

२. बलिहारी गुरु आपके द्यो हाडो के बार।
जिनि मानस ते देवता करत न लागी बार॥

कबीर ग्रन्था०, साखी २।

३. लाल लाल तू कई करे, सबके पल्ले लाल, मेरे सत्गुरु ने दीनी बताय
लाली मेरे लालन की लाल दड़ी चौकन में पड़ी……।
लेखक का गीतसंग्रह (हस्तलिखित)   भाग २, गीत १०५।

४. सतगुरु ऐसा जानता रे, जैसा मणिका भाड़रे।
घोटत घोटत रंग चढ़े रे जैसे दीन दयाल रे॥   २।१०५।

गुरु का सामीप्य प्राप्त करने के लिये, संसार सागर को पार करने के लिए ओम् शब्द का जप आवश्यक है ।[1]

लोकगीतों का सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन भी सन्तपरम्परा से आबद्ध है । दार्शनिक चिन्तन की यह धारा अत्यन्त ही प्राचीन है । भारतीय दर्शन के अनुसार आदिपुरुष परमेश्वर ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है । सृष्टि की यह परम्परा अनादि है । जिस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को अक्षय एवं अनन्त कहा जाता है उसकी जड़ें तो ऊपर की ओर और शाखाएं नीचे की ओर स्थित हैं ।[2] आदिपुरुष ब्रह्म के नित्य और अनन्त होने के कारण सबसे ऊपर के नित्य धाम को ऊर्ध्व स्थिति का माना है, और ब्रह्मा द्वारा विरचित संसारवृक्ष को अधःशाखा कह कर परम तत्व को सृष्टि–विधाता ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ स्थान दिया गया है । आत्मा, परमात्मा एवं जगत की उत्पत्ति-सम्बन्धी दार्शनिक विचारों का यह प्रवाह प्रत्येक युग के संत और विचारकों को तत्व-चिन्तन का आधार प्रदान करता रहा है ।

नाथ-परम्परा से प्रभावित कबीर ने वेदान्त के विचारों की पृष्ठ-भूमि पर एवं गीता द्वारा प्रतिपादित संसार वृक्ष की भावना को नये ढंग से

---

१. (क) दोई कर जोड़ अणन्त गुरु बोल्या········२ । ६१ ।

(ख) ओम सबद लई उतरो पार

सँवत सकल घर गुरुजी का मेला

परथम रच्लो रणु रणुकार

गुरुजी हो निराकार म्हारा सायबा ने ध्यावाँ········२ । ६०

२. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्········

भगवत् गीता, अध्याय १५ श्लोक १ ।

प्रस्तुत किया है । उन्होंने अक्षर ब्रह्म को ही एक वृक्ष का रूपक देकर संसार को उसके पत्ते माना है । उस वृक्ष की विशेषता यह है ब्रह्म के अनादि और अविकारी स्वरूप का संकेत भी दिया है ।[1] सामान्य मनुष्य अपने चर्मचक्षुओं से, स्थूल दृष्टि से प्रायः यही देखता है कि वृक्ष की जड़े तो भूमि में होती है और उसकी शाखा एवं पत्ते ऊपर की ओर, वृक्ष की जड़ को ऊपर एवं पत्तों के नीचे होने की बात जो कहता है वह पंथ ही उल्टा है ।[2] इस उल्टे पंथ की बात को अगम मानते हुए भी लोगों ने अपना विश्वास प्रकट किया है, अगाध श्रद्वा प्रकट की है, चाहे वे इसके गूढ़ रहस्य को समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं । कबीर के अनुकरण पर लोक-गीतों में भी उल्टड़े पंथ के उल्टे वृक्ष की चर्चा अवश्य हुई है ।[3] पंच तत्वों को लेकर सृष्टि का निर्माण हुआ है । आठ कोड़ी (१६०, बीस की संख्या को मालवी में एक कोड़ी कहते है) पर्वतों की खूंटियो को गाड़कर सुमेरु पर्वत का स्तम्भ प्रस्थापित किया । पाताल लोक में नौ कोड़ी

---

१. अक्षय वृक्ष एक पेड़ है निरंजन वाकी डार
त्रिदेव शाखा भये पात भया संसार........
कबीर वचनावली, पृष्ठ १ ।

२. तरवर एक पेड़ बिन ठाड़ा बिन फूला फल लाग्या रे
साखा पत्र कछू नही वाके अष्ठगगन मुख बागा रे....
कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १४३ ।

उल्टड़ा पंथा अगम् करने जोश्रो
जोश्रो लेना नगर बजारा
अरे कोई परखेला संत कोई प्यारा....२ । १११ ।

३. हां एम्हारी हेलो में तो पुरबिया उनका देस की
बिना पेड़ दरखत एक ठाड़ा, छाया नजर नी आवेरे
पान फूल तो दिखे नहीं, बांस गगन चढ़ जावे रे....२ । ११५ ।

(१८०) नागों को उत्पन्न कर सर्वश्रेष्ठ शेषनाग के मस्तक पर इस पृथ्वी को एक छत्र के समान प्रतिष्ठित किया है। अनन्त ज्योति के चकाचौंध को उत्पन्न करने वाले प्रकाश में विधाता ने इस सृष्टि की रचना कर डाली। निराधार गगन में नव लख तारों का समूह प्रकट कर उनमें चन्द्र और सूर्य के दो दीप भी रख दिये। ईश्वर ने इसे विश्व का सृजन कर मानव के लिये जोग और भोग, ये दोनो तत्व प्रदान किये हैं।[1] उक्त प्रसंग में ग्राठ कौड़ी ग्रौर नौ कौड़ी की संख्या का उल्लेख विचारणीय है। मालवी परिगणन के ग्रनुसार १९० एवं १८० की संख्या का महत्व यहाँ पर नही है। पाच कौड़ी से तात्पर्य है, पंचतत्व पृथ्वी, सलिल, ग्रग्नि, वायु, ग्राकाश एवं मन-बुद्धि ग्रौर ग्रहंकार यही इस चेतन विश्व की सत्ता का प्रकट एवं सर्वव्यापी रूप है। ग्रार्यों की ग्रष्टमूर्ति शिव के सम्बन्ध में जो कल्पना है, वह दार्शनिक पृष्ठभूमि की प्रतीक है। कबीर ग्रादि सन्तों ने ग्रष्ट गगन मुख बागा····[2] एवं ग्राठ महल····[3] का रूपक देकर ग्रष्टधा प्रकृति का उल्लेख किया है। नौ

१. धमण धमाया पवन उपाया रे
पवनारा जल पाणी किया···हो···जी
पाणी उपर धरती थेपाणी, जिण पे संसार घडिया रे·······
ग्राठ कौड़ी परवत खूंटी रोपिया, सुनेर परबत खंभ धारिया
नौ कोडी नाग पाताल परगटिया, सिरो नाग पै छत्तर धरिया रे····
घुन्धकार में ग्रालम रचिया, ग्रसंग जुगा में दिया उँकासा
चांद सूरज दोइ दीप धरिया रे
ग्रोगढ़ दन्ता में सब जुग जाने जोग भोग, दोइ सापड़िया रे···२। ९७।

२. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १४३।

३. ग्राठ महल के ग्रन्दर माही
संत विलास करे तेही ठाई·······रत्न सागर, पृष्ठ १५

कोड़ी का संकेत तो स्पष्ट ही है। मानवी में शरीर को नौ द्वार का पिंजड़ा कहा जाता है। वज्रयानी तांत्रिक एवं सिद्धों की इस मान्यता ने परम्परा के रूप में रूढ़ विचारों का स्थान ले लिया है। सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन में नव द्वार का उल्लेख किया जाता है। भारतीय लोक-दर्शन से प्रभावित सूफी कवि जायसी ने भी पदमावत में इसी रूढ़ विचार को ग्रहण किया है।

सृष्टि की उत्पत्ति के पहिले की कल्पना भी बड़ी मनोरम है। भावमय दृश्य जगत का अभाव ही सृष्टि के पहिले की स्थिति कही जा सकती है। यह शून्यत्रतामय स्थिति है। जिसमे केवल ब्रह्म की सत्ता ही विद्यमान थी। बीज ब्रह्म रूप की, एकोऽबहुस्यामः की आत्म-विस्तार भावना पंथीड़ा के एक गीत में आकर्षक ढग से व्यक्त हुई है........

आप अलख हुई बैठा बूंद अभी रस छूटा
इक बूंद का सकल पसारा पुरस पुरस नर फूटा
अवूध मन बिन करम नी होता........
आधो अंग नारी को कहिये, आदो हर गुरु नर को
माता पिता का मेल मिलिया, करी करम की पूजा
पेला पिता एकला होता पूत जन्म्या दूजा........अवधू
धरी असमान सुन बिच नइँ था. तबी आपण दोइ कुण था ?
साती सायर आठ कोड़ी परवत, नव कोडी नाग नइ था,
आठ रे बाहर बनस्पति नइ थी, नइ था नवलख तारा
बारा मेघ इन्दर नही होता, बरसन वाला नर कुण था ?
बरमा नइँ था बिसनू नइँ था, नईं था शंकर भोला
कहे कबीर मंडप नही होता, माडनवाला नर कुण था

सृष्टि एवं सृष्टिकर्ता की अनन्यता को अनुभूति को प्रकट करने में कबीर के वचनो का आश्रय लिया गया है। लाल-लाल तू कइ करे सबके

पल्ले लाल।[1] आत्मा उसी परमात्मा–स्वरूप का अंश है, इस सम्बन्ध भाव को व्यक्त रूप देने के लिये पति और पत्नी के दाम्पत्य संबन्ध के लौकिक रूपक का सहारा लिया गया है। आत्मा तीन गुणों से युक्त, सत, रज, तम साकार शरीर में व्यक्त होती है·······

सगुण सरुपी नार, सायब रो गुण पतिदेव मनावो···[2]

आत्मा को हंसला (हंस) शब्द से संबोधित किया गया। निर्विकार आत्मा में सद्-असद् का निर्णय करने की क्षमता होती है। किन्तु माया-जन्य अज्ञान के कारण स्वरूप दर्शन के लिये व्यर्थ ही उसे संसार में भटकना पड़ता है। ईश्वर को मन्दिर और तीर्थों मे खोजने से क्या लाभ।[3] परमात्म–तत्व के मिलन की अनुभूति निर्गुणी सन्तों ने सान्ध्य एवं स्पष्ट भाषा में प्रकट करने की चेष्टा की है। ईश्वर की प्रियतम के रूप में कल्पना की गई है और उसके आवास की भी बड़ी विचित्र कल्पना है।[4]

दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक मे ईश्वरीय प्रेम प्रकट हुआ है:—

लख चौरासी भटकत–भटकत अब के मौसम आया रे
अब के मौसम चुकी जाय तो कही ठौर नहीं पाया रे
बनड़ा ते भले रिझाया रे।

१. लाली मरे लाल की जित देखूं उत लाल

२. २। १११

३. क्यो रे हंसला बायर भटके
उठ पद्मनी पांव पदम तेरे पग माँहि
ऐसा तीरथ और बताडू, दरसन करले डेरे मांय·······२। ११४

४. धरण गगन बीच आसमान हमारा
रंग सो बोले सायब न्यारा
एक सम भरी पवरणा जल पानी·······२। १११

म्हारी सूरत सुवागन नवल बनी सायब भर पायो रे
हेत की हल्दी ने प्रेमरस पीठी तन को तेल चढ़ायो रे
मन पावन हतवालो जोड्यो वीर परण घरआयो रे
बनड़ा ते....................

राम नाम का मौड़ बंधाया बिरमा बेद बुलाया रे
अब न्यारी को हुयो समेलो वीर परण घर आया रे
रामनाम का मोड़ बंधाया पड़लो प्रेम सवाया रे
घोच घलन में सेज बिछाई पोढ़े प्रेम सवाया रे
बनड़ा ते................. [1]

नववधू रूपी आत्मा का विवाह-रूपक लौकिक रस की अनुभूति के आधार उस महामिलन के अलौकिक रस का आभास मात्र देने के लिये अपनाया गया है। गगन मंडल पर अविनाशी प्रियतम के 'समेले', सम्मेलन का आनन्द भाव कबीर ने भी स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। [2] आत्मा और परमात्मा की एकाकार स्थिति के लिये 'सुरत' शब्द का प्रयोग कबीर आदि निर्गुणी सन्तो ने अपनाया। नाथ पंथी योग-साधना की पद्धति अन्तर्मुखी है, और साधक विभिन्न योग क्रियाओं को सफलता के साथ जब साध लेता है तब उसे इसी व्यक्त शरीर से अव्यक्त रस का अनुभव होता है। योग-साधना मे शून्य मंडल या गगन शब्द ब्रह्म-रन्ध्र

१. २। ११७।

२. (क) कह कबीर हम व्याहि चले है
पुरुष एक अविनासी....कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ८६।

(ख) दुलहिन को पिया का संग
दुल्हा तेरा गगन बसेरा....सार वचन, पृष्ठ ३७७।

(ग) सुंनि मण्डल में सोध ले परम जोति परकास....क. ग्र. पृ. १२७

का सूचक है ।[1] योग-मतानुसार हमारे शरीर के भीतर मेरूदण्ड की हड्डी की भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों के रूप में नीचे से ऊपर तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा नामक छः चक्र पाये जाते है । जिसकी बनावट कमल के समान होती है । इन सबके ऊपर अर्थात् हमारे मस्तिष्क के सर्वोच्च भाग मे एक सातवाँ कमल भी है जो अपने दलों की अधिकता के कारण सहस्रसार कहलाता है ।[2] प्राणायाम, ध्यान धारणा आदि से मन की बिखरी हुई वृत्तियो को संकुचित कर शीर्षकमल मे सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्रीयकरण एक दिव्य-ज्योति के अनुभव का आनन्द देता है । सहस्रसार अर्थात् सातो गगन के ऊपर चढ़ जाने के पश्चात् सद-गुरू [ब्रह्म] का दर्शन होता है । इस अन्तः साधना के सम्बन्ध में इंगला पिंगला और शुषुम्ना नाड़ियो का उल्लेख भी आता है । अन्तुर्मुखी त्रिवेणी का प्रयाग शून्य है, ब्रह्मरन्ध्र है । कही कही पर इस शून्य-चक्र को मानसरोवर भी कहा गया है ।[3] मालवी लोकगीत मे योग-साधना सम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यो का उल्लेख भी हुआ है ।

ओम सबद लई उतरो पार, परथम रट लो राणु राणु कार
इंगला जो पिंगल सुकुमणनार, उई साधा मिल तीन तंत तार
बंक नाल का घाहरे लूंव्या, अमृत बरसे वा अखण्ड धार
तिरवेणी में गुरु ध्यान लगावो, रंग मेल में हुआ परकास
गगन मंडल बिच रच रया रास, सवन मेल में हुआ परकास
इन मन्दर मन्दरियो मे मुरली बाजे, और बाजा का छय्यन पार....[4]

---

१. डॉ० बड़थ्वाल, हिन्दी-काव्य मे निर्गुण-सम्प्रदाय, प्रस्तावना ।

२. उत्तर भारत की सन्त परम्परा....पृष्ठ २०५-६

३. जो पिन्डे सो ब्रह्माण्ड जानि मान सरोवर करि असनान.......
कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १९९ ।

४. २।९०

सहस्रसार कमल में अमृत की अखण्ड धारा प्रवाहित होती रहती है। योगी या साधक इस अमृतपान के पश्चात् आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। गुरुकृपा से एवं नाम-स्मरण से इस अमृत की प्राप्ति होती है।[1]

संसार की नश्वरता के प्रति चेतावनी देने वालो में कबीर को अधिक महत्व दिया गया है। के गयो कबीरो रे''''यह संसार नाश्वान है क्षण भंगुर है, यही भावना ईश्वर भजन की प्रेरणा देती है। अस्थि-चर्म-मय देह को सजा-संवार कर अभिमान करने वाले व्यक्ति को सावधान किया जाता है।

अरे सांवलिया रट लो''''भजन कर लो
चामड़ा की पूतली चाबे बीड़ा पान
आछा आछा कपड़ा पेरे भूठो रे अभिमान
अरे चामड़ी री पूतली राम्यो रट लो
चामडा का हत्ती घोड़ा, चामड़ा का ऊंट
चामड़ा का सतरंग बाजा, बाजे चारी खूंट
अरे सांवलिया.......

चामड़ा रा राजा परजा, चामड़ा रा अदीत।
के गयो कबीरो रे...........अरे सांवलिया...........२। १०८

संसार की स्वार्थी प्रवृत्ति, लोभ एवं मृगतृष्णा के प्रति ग्रामीण किसान का दार्शनिक चिन्तन देखिये....

---

(२४) गगन मण्डल में ऊंधा कूआ, तहाँ अमृत का वासा
सुगरा होई सुमरि भरि पीवे, निगुरा जाय पियासा........
गोरखवाणी, पृष्ठ ६।

चलती को नाम गाड़ो रे, बिगड़ी को बन्डीबाड़ो रे
हाँ पीपल काट के मकान बनायो, घर में धर दियो आड़ो रे चलती०....
हंसली बेच के भैंस आणी, भैंस बियाणी पाड़ो रे चलती१....
सत्ती हुई ने रोवण लागी, घर को मर ग्यो पाड़ो रे चलती०....
नरसी मेतां ने मामेरो बुलायो, किसनो अई ग्यो आड़ो रे चलती०....२। १०७

कबीर आदि सन्तों ने अपने मत के प्रचार के लिये जिस लोक भाषा को अपनाया था उसका सर्वाधिक लाभ दलित एवं निम्न स्तर की जातियों को हुआ। इसलिये लोक-गीतों पर इनका प्रभाव अमिट रूप से छाया हुआ है। ज्ञान, विद्या और युग की वैभवमयी संस्कृति से वंचित एवं तिरस्कृत जनता के लिये लोक-गीतों के भाव–भजन ही आत्मतोष प्रदान करने के लिये पर्याप्त है।

मृत्यु गीत (मसाण्यागीत)

तत्वज्ञानियो के लिये मृत्यु भय का कारण नही बन सकती। मानव-जीवन धारण कर अपने कर्तव्य को सफलता के साथ पूर्ण किये जाने के पश्चात् वृद्धावस्था में कोई व्यक्ति यदि देहत्याग करता है तो वह शोक एवं वेदना की अपेक्षा गर्व और कर्तव्य की प्रेरणा का विषय बनता है। मालव एवं उसके दक्षिणी अंचल में स्थित निमाड़ प्रदेश में किसी वृद्ध एवं सन्त की मृत्यु पर भजन गाये जाते हैं। गीतों के आयोजन में मृत व्यक्ति की शव-यात्रा उस श्मशान भूमि तक ले जाई जाती है। झाँझ मजीरे एवं मृदंग आदि वाद्यों के संगीतमय वातावरण में वैराग्य भावना का एक शान्त वातावरण बन जाता है। मृत्यु के अवसर पर गाये जाने वाले इन गीतों को 'मसाणिया गीत' एवं 'नारदी भजन' कहते हैं। मृत्यु गीतों को नारदी भजन की संज्ञा शायद उनमें निहित वैराग्य-भावना के कारण दी गई है। नारदी भक्ति का उल्लेख कबीर ने भी किया है।[1] संसार के माया-

१. भगति नारदी मगन सरीरा....कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६८।

ममता के सब बन्धनों को तोड़ कर आत्मरूप में रम जाने वाले जीवन-मुक्त साधक की भक्ति का आदर्श आत्म-ज्ञानी एवं परम-भक्तों में श्रेष्ठ नारद ही हो सकते हैं। नारद भगवान के अधिक निकट हैं। आत्मा भी परमात्मतत्व में मिलने के लिये भौतिक शरीर को छोड़कर परलोक के लिये प्रस्थान करती है। अतः मृत्यु के पश्चात् परब्रह्म के निकट जाने के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को नारदी भजन की संज्ञा देना उपयुक्त ही जान पड़ता है। मसाणिया गीत किसी युवा, बालक अथवा स्त्री की मृत्यु पर नही गाये जाते।

मृत्युगीतों की वैराग्य भावना

वैसे मरण का अवसर ही शोक के वातावरण को उत्पन्न करता है। किन्तु मृत्युगीतो की वैराग्य-भावना एवं वर्णित विषय इतना प्रभावमय है कि शान्त रस साकार हो उठता है। ससार की नश्वरता, आत्मा-परमात्मा के मिलन की स्थिति का उल्लास, आत्मस्वरूप का ज्ञान, आदि भावनाएं और चिन्तनाएं हृदय को एक बार झकझोर देती हैं। उसका प्रभाव स्मशान-वैराग्य की अपेक्षा स्थायी होता है। यहीं लोक-गीतों में दार्शनिक चिन्तन से काव्य का रस उमड़ता हैं। आकर्षण और राग की डोर से बँधा हुआ मनुष्य जब संसार को छोड़ता है, उसके परिजनों का, विशेषकर उसकी पत्नी का मनोविज्ञान, विलाप और करुणा के साथ संसार की असारता एवं मानवी देह की नश्वरता का भाव जागृत करता है........

अरे म्हारा हंसा रे, लोभी जिवड़ा रे ! काया री बाड़ी मेली मति जावो
हंसा तू ने आपुण आया दोई जणा, अब अन्त अकेलो जाय रे म्हारा हंसा...
तू ने आपुण पिया दूध रे, अब जाता पियो तम नीर रे म्हारा हंसा....
ओ हंसा माय-बाप आपण सेव्या दोई जणा
अब माय-बाप छोड्या मकान, म्हारा हंसा०........३ । १४२

प्राण-पंछी के उड़ जाने की कल्पना में नश्वर देह और आत्मा के चैतन्य एवं शाश्वत स्वरूप का संकेत दिया गया है:—

पिंजरा से पोपट उड़ गया, अरे बठ्या जमुना किनार !
जमुना में पोपट न्हई रया, भई पोपट थारा कारणे
अरे खासी बाग लगाई रे, चम्पा चमेली दोई मोगरी,
पड़ो रे पोपट श्रीराम........३ । १४३

वैराग्य भाव के साथ ही सृष्टि एवं जीवन-संबन्धी चिन्तन अधिक गूढ़ एवं गंभीर हो उठा है। वस्तुतः अन्य गीतों के समान मृत्यु-गीतों पर मध्ययुगीन सन्तों की वाणी का अमिट प्रभाव पड़ा है। शब्द, तिरवणी (त्रिगुण) अणहद, सुरत अष्ट कमल आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग निर्गुणी विचारधारा को स्पष्ट करता है।

अरे सोवणवालो हालरो, जाकी निरमल जोत
सबद धात को पालणों, अरे पाट्या तीन सौ साठ
एक खील जड़ाव, अरे जाये ठठिया ठाठ सोवण वालो०........
अगासी फूलवाही बांदिया, लागा तिरवणी डोर
जुगत से झूला चला दिया, अरे हेंचा मन रंग मोर। सोवणवालो०....
अणहद घुंगरु बाजिया, अरे सुरतां करो विचार
अष्ट कमल दिया जल चढ्या, अरे लागा सांकल डोर। सोवणवालो०....
नदी सिपरा के घाट पै अरे बैठ्यो ध्यान लगाय
आवता देख्या हो पींजरा, अरे लियो गोद उठाय। सोवणवालो०....३ । १४४

आत्मा और परमात्मा के प्रेम की अभिव्यक्ति का लौकिक-आधार दाम्पत्य संबंध है, आत्मा एक नववधू है, और परब्रह्म उसका प्रियतम। यह संसार आत्मा का नेहर (मायका) है। प्रियतम आकर वधू को अपने घर ले जाता है। विवाह के पश्चात् ससुराल में वधू को ले आने की प्रथा

को 'आणा' कहते है। मृत्यु का आजाना ही मानों प्रियतम की ओर से प्रेषित किया गया प्रणय का आह्वान है। शव की अन्त्येष्टि क्रिया के पूर्व जो शृंगार सज्जा की जाती है वह आत्म-रूप वधू का प्रिय के महामिलन के समारंभ का उल्लास है:—

आणो आयो रे परिब्रह्म को, सासरिया को जाणो रे !
चालो म्हारा सांत की सई होण, अरे अपण न्हावण जांव
अरे कई देवा मन्दिर सिदारां, आणो आयो०........
चालो म्हारी सांत की सई होण, अरे अपण माथा गुंथावां
कई गुंथ्या कई गुंथणो, मोतियन मांग पुरावां आणो आयो०....

---

७ | इतिहास और जनश्रुति

इतिहास और जनश्रुति

इतिहास के संबन्ध में भारत के प्राचीन विद्वानों की धारणा आज के इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न रही है। जहाँ समाज अपने ज्ञान को मौखिक परंपराओं मे ही अर्जन करता है, वहाँ आज के इतिहासकार को सत्य की जानकारी के लिये अधिक सावधान रहना पड़ता है। किन्तु प्राचीनकाल में अनुश्रुतियों एवं मौखिक परंपरा में जीवित सत्य के अस्तित्व को इतिहासकारों ने व्यापक रूप से ग्रहण किया है। संस्कृत का पुराण-साहित्य इसी अर्थ में इतिहास भी है। पुराणकारों ने अपने ग्रन्थों का जो आधार ग्रहण किया, उसमें जनश्रुतियों का सर्वाधिक महत्व है। पुराणकारों ने युग विशेष के इतिहास को लिखते समय समाज की बहु-मुखी जीवन-धाराओं को समेटने का प्रयास भी किया है। आचार्य चाणक्य ने इतिहास की परिभाषा देते हुए, उसकी वर्ण्य वस्तु के सबन्ध में लिखा है—

'पुरातन समाचार, कहानी, उदाहरण, धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि को इतिहास के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।'[1] यह इतिहास के अधिकार क्षेत्र की विस्तृत एवं व्यापक सत्ता है। आज धर्म-शास्त्र एवं अर्थ-शास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इतिहास के क्षेत्र में शास्त्रीय एवं विवेचनात्मक दृष्टि

१. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं।
धर्मं शास्त्रं अर्थशास्त्रंचेति इतिहासः॥ अर्थशास्त्र ५।१४

से उक्त विषय के शास्त्रों को सम्मिलित नहीं किया जा सकता। किन्तु लोक-परम्परा में प्रचलित इतिवृत्त एवं आख्यायिकाओं का, लोक-कथा एवं जन-श्रुतियों का किसी भी देश के इतिहास एवं जन-जीवन की सामान्य स्थिति पर प्रकाश डालने की दृष्टि से अपना महत्वपूर्ण स्थान है। यह महत्व अध्ययनशील व्यक्ति और पढ़े-लिखे लोगों के लिए तो अवश्य ही विचारणीय है कि वह देश और समाज के इतिहास के विषय में सम्यक् ज्ञान रख सके। साधारण एवं निरक्षर जनता के लिये तो स्थिति एकदम भिन्न ही होती है। पढ़ने-लिखने की सामर्थ्यहीनता के कारण जनता का दृष्टिकोण अपने पुरातन इतिहास और सांस्कृतिक वैभव के प्रति एक विचित्र परिकल्पना में बदल जाता है। कभी-कभी तो इतिहास के प्रत्यक्ष प्रमाण भी जनता को आलोकित नही कर पाते। ऐतिहासिक व्यक्ति एवं स्थानों के लिये साधारण ग्रामीण जन अपना मत अलग से ही निर्धारित कर लेते हैं और मन-कल्पित अज्ञान-जन्य अनेक कथाएं प्रचलित होकर जन-श्रुति का स्वरूप धारण कर लेती है। इतिहास की कुछ ज्वलन्त घटनाएं भी लोक-श्रुतियो में इतनी प्रच्छन्न हो जाती हैं कि उनका प्रकृत ज्ञान भी धूमिल हो जाता है। व्यक्ति की महत्ता को तुलनात्मक दृष्टि से परखने के लिये मालवी में एक कहावत प्रचलित है:—

'काँ राजा भोज ने काँ (कहाँ) गांगली तेलन'।

तेलंगाना का अधिपति तैलप एवं त्रिचुरी का राजा गांगेयदेव जन-दृष्टि में आकर एक हो गये और गांगली तेलन का स्वरूप धारण कर लिया। घानी से तैल निकालने वाली एक साधारण तेलन राजा भोज के महान व्यक्तित्व की समता में प्रस्तुत नहीं की जा सकती, उसी तरह राजा भोज की वीरता और उदारता के सम्मुख प्रंपची एवं कायर तैलपराज भी नहीं ठहर सकता। अतीत के इतिहास की धुंधली स्मृति ने कैसा विचित्र स्वरूप धारण कर लिया। वैसे भोज की लड़ाई तैलप से नहीं हुई। राजा

भोज के पितृव्य मुंज एवं तैलप के मध्य युद्ध अवश्य हुआ था। तैलप का समकालीन त्रिपुरी का राजा कलचुरी नरेश गांगेयदेव मुंज और भोज का समकालीन था, जिसे मुस्लिम इतिहासकारों ने गंग नाम से पुकारा है।[१] जनता के मस्तिष्क में इतिहास-प्रसिद्ध दो व्यक्ति गंग और तैलप एक हो गये। गंग का विकृत रूप गांगली हो गया और तैलप तेलन (तेली की स्त्री) बन कर गांगली नाम का जाति सूचक विशेषण बन गया-और धारा नगरी में स्थित एक लौह-स्तंभ तेलन की 'लाठ' के रूप में प्रचलित होगया।

इतिहास के प्रति इस प्रकार कठोरता की उपेक्षावृत्ति में इतिहास-जन्य अज्ञान के साथ ही अशिक्षित जनता की कल्पनाशीलता का परिचय भी है। एक तो जन-श्रुतियों के आधार पर इतिहास के सत्य की खोज होती है किन्तु यहाँ इतिहास के आधार पर जन-श्रुतियों का निर्माण होता है। कुछ इतिहास-प्रसिद्ध स्थानों के प्रति जनता की मान्यताएं विचारणीय हैं-

सास बउ की बिठा

सास और बहू का संबन्ध भारतीय परिवार में एक विशेष महत्व रखता है इनके सम्बन्ध में अनेक लोक-कथाएं भी प्रचलित हैं। ग्वालियर के किले में स्थित दो मन्दिरों को 'सास-बहू' का मन्दिर कहने में भी उपरोक्त प्रवृत्ति ही लक्षित होती है। किन्तु साँची के स्तूप जैसे बौद्धकालीन विश्व-प्रसिद्ध स्मारक को वहाँ की ग्रामीण जनता 'सास बउ की बिठा' के नाम से जानती है। स्थानीय बोली में 'बिठा' उपलों के ढेर को कहते हैं। वर्षा के दिनों में पानी से बचाने के लिये उपलों के ढेर को स्तूपाकार में रखकर मिट्टी का प्लास्टर लगा दिया जाता है। 'बिठा' एवं स्तूप में

---

१. (क) Dynastic History of Northern India.
H. C. Roy, Vol. 2nd pp. 772--74.
(ख) प्रबन्ध चिन्तामणि—आचार्य मेरुतुंग, पृष्ठ ३३—३६।

बहुत–कुछ आकार-साम्य है । साँची में एक छोटे और दूसरे बड़े स्तूप को देख कर लोगों ने कल्पनाजन्य कथा रच डाली कि सास और बहू के कन्डे के ढेर (बिठा) को भी भगवान ने उनकी कार्य-निष्ठा पर प्रसन्न होकर, उनका नाम अमर करने के लिये 'बिठा' को पत्थर का बना दिया ।

म.मा-भानेज की बरात

भारतीय लोक-कथाओं में मामा और भानजे की प्रसंगवश बहुत चर्चा आती है । मामा कंस तो प्रसिद्ध ही है । भगवान को कृष्ण रूप में अवतार लेकर उसको दण्ड देना ही पड़ा था ।

विदिशा (भेलसा) के निकट उदयगिरि की गुफा क्रमांक पांच में वराहावतार की विशाल, भीमकाय मूर्ति को लोग 'मामा भानेज की बरात' कहते हैं । इस कल्पना का आधार भी स्पष्ट ही है । वहां चट्टान पर वराहमूर्ति के मुख में ग्रस्त भू–सुन्दरी उत्कीर्ण है । साथ ही तेंतीस करोड़ देवताओं की प्रतीक अनेक आकृतियां भी पंक्तिशः उत्कीर्ण की गई हैं । देवों की इन पंक्तिबद्ध मूर्तियों को सामान्य जनमानस ने बरात मान लिया और कल्पना ने एक कथा को जन्म दिया—

'भानेज की बरात दुल्हन को ब्याह कर घर लौट रही थी। वधू की सुन्दरता को देखकर वर के मामा की नियत खराब होगई और उसने वधू के नारीत्व को अपमानित करना चाहा । बराती लोगो ने भी मामा के इस जघन्य पापाचार का कोई विरोध नही किया । परन्तु भगवान ने तो उस 'सती बउ' की लाज रख ली । दुष्ट मामा को सूअर (बराह) बना दिया और सारी बरात पत्थर की होगई ।'

'वराहावतार'—शब्द जनता की बोली में प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से घिस कर 'बरात' इस प्रकार से बना होगा—

बराहावतार–ब्राराव्तार–ब्रारातार–बारात–बरात ।

भीम का गिल्ली–डण्डा

वस्तुओं का आकृतिसाम्य ही अपढ़ जनता की कल्पना को उकसाता है। उदयगिरि (भेलसा) की पहाड़ी पर स्थित स्तंभ का शिरोभाग टूट कर नीचे गिर पड़ा। लोगों की कल्पना सजग हुई। 'जो ठाड़ो है वो डन्डा, जो डरी है वो गिल्ली !' और इस गिल्ली-डण्डे, से खेलनेवाले भी इतिहास-पुराण प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। छोटे एवं निर्बल व्यक्ति तो इतने बड़े गिल्ली-डण्डे से खेल नही सकते ! उनसे खेलने वाले भी उतने ही भीमकाय होना चाहिए–'जे अरजुन भीम को गिल्ली-डण्डो है।' असामान्य एवं मानवी शक्ति से परे का कार्य अर्जुन-भीम ही कर सकते हैं। साधारण जनता के मस्तिष्क में महाभारत की कथाओं की अस्पष्ट छाया अंकित है, और वे पाण्डव एवं भीम से तत्काल ही किसी भी वस्तु का संबन्ध जोड़ देते हैं।

पाण्डु की गुफा

बाघ की गुफाओं को वहाँ के वन्वासी भील 'पाण्डु की गुफा' कहते हैं। इसका कारण है, वहाँ की पाँच विशाल मूर्तियाँ। एक तो तथागत की पद्मासनमयी आकृति की प्रतिछाया को प्रकट करने वाला विशाल प्रतीक जो प्रायः चैत्यों में पाया जाता है तथा चार अन्य अनुचर राजपुत्रों की प्रतिमाएँ। इस तरह पाँच मूर्तियों का साम्य पाँच पाण्डवों से स्थापित कर लिया गया। नासिक जिले में 'पाण्डु लेन', बरहटा (म० प्र० जिला नरसिंहपुर) में स्थित 'पाँच पाण्डव' आदि की कल्पना का आधार भी पाँच की संख्या एवं मूर्तियों का विशाल काय होना ही हो सकता है। बरहटा की पाँचों मूर्तियाँ तो नग्न जैन तीर्थङ्करो की है। किन्तु सामान्य जनता उन्हें प ण्डव ही मानती है और प्रतिवर्ष सावन महिने में वहाँ पाण्डु का मेला भी लमता है। अर्जुन–भीम से किसी भी स्थान का संबंध जोड़ देना, जन साधारण के लिये एक सहज बात है। बाघ कस्बे

के निकट गुफाओं की ओर जाने के पहाड़ी मार्ग में स्थित एक छोटे कुए को 'भीमकुई' कहते हैं। मान्यता यह है कि वनवास के समय प्यास लगने पर भीम ने इसे खोदा था। बाघनी नदी का तो वह सब पानी पी गया पर उसकी प्यास न मिटी और उसने यह 'कुई' खोदी। भीम जैसे वृको-दर के लिये तो अटूट जल की कुई ही चाहिए।

सतमासा मोड़ा

उदयगिरी की गुफा क्रमांक तेरह में शेषशायी विष्णु की विशालमूर्ति उत्कीर्ण है। लोग उसे 'सतमासा' कहते हैं। शेषशय्या पर लेटे हुए होने के कारण उन्होंने सोते हुए शिशु की कल्पना की। सर्प पर शयित होने के कारण उसे उपेक्षा एवं त्यागा हुआ मान लिया—

'नागदेव की आसंग सो रयो सतमासा मोड़ा (लड़का) डरौ हैं वो बड़ों डब्बल है............' वैसे पूर्ण गर्भ नौ मास का माना जाता है। सतमास के गर्भ का बालक अधूरा माना जाता है और उसका जन्म माता के लिये अनिष्टकर भी सिद्ध हो सकता है। सतमासे बच्चे जीते भी हैं और इसलिये वे माता एवं परिवार के व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा के पात्र ही होते हैं।

खम् बाबा

तक्षशिला के यूनानी शासक के राजदूत 'हेलि ओदर' ने (१४०–१३६ ई० पूर्व) बेसनगर (भेलसा) में आकर भागवत धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके द्वारा प्रस्थापित गरूड़-स्तंभ का पुरातत्वविदों के लिये चाहे कितना ही महत्व का क्यों न हो किन्तु वहाँ के सामान्य धीवरों के लिये तो वह 'खम् बाबा' है। ये खम् बाबा मछलीमारों के आराध्य देव हैं और न जाने कितने युगों से लोगों की मनोंकामनाओं की पूर्ति का कारण बनकर आराध्य देव के रूप में प्रतिष्ठित है। बांझ को ये पुत्र देते हैं, रोगियों का रोग दूर करते हैं, पशु–चोरों का पता लगाने की प्रेरणा भी देते हैं। आषाढ़ मास में इनकी पूजा की बड़ी धूम रहती है।

८ | रातजगा में विभिन्न देवी-देवताओं का आह्वान

विवाह के संस्कार में लौकिक अभिचारों का अंश धार्मिक कृत्यों से भी महत्वपूर्ण समझा जाता है। भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के पूजन में निगमागम-सिद्ध शास्त्रीय आधार बहुत ही अल्प है और विनायक आदि की पूजन के अतिरिक्त मालवा की सभी जातियों में निम्न-लिखित देवी-देवताओं की पूजन की जाकर रात्रि-जागरण के अनुष्ठान में गीत गाये जाते हैं—

१. कुलदेवी २. पूर्वज ३. सत्तीमाता ४. जुझारजी
५. पीरजी ६. भेरूजी ७. मृत सौत—'बडी' या 'जीजा'
८. शीतला।

विवाह के अवसर पर पूजित होने वाले देवी-देवताओ को राजसी अथवा तामसी प्रवृत्ति का माना जा सकता है। लौकिक पूजा के इस आनुष्ठानिक आयोजन में 'टोने-टोटके' का बाहुल्य है जो स्पष्टतः व्यंजित करता है कि सामान्य नारी-मानस की स्थिति आदिम युग की मानवीय सभ्यता से अधिक विकसित नहीं हो पाई है और ये मान्यताएँ एवं अन्ध-विश्वास आज की अनेक आदिम जातियां से मिलते-जुलते है। मानवेतर सृष्टि के विभिन्न पदार्थों में देवत्व की कल्पना कर, भय और विस्मय की भावना से उपासना एवं प्रार्थना करने की प्रवृत्ति असभ्य और अर्ध-सभ्य जातियों की देन हैं। बहुदेवत्व की भावना निम्नस्तर की आदिम जातियों

में विभिन्न रूप में प्रकट होती है। ऐसे लोगो में अन्ध-विश्वास के कारण देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जादू-टोने एवं अनेक विचित्र अभिचारों का प्रचलन हो जाता है। इस बहुदेव-उपासनावाद को १९ वी सदी के जर्मन लेखक अर्नेस्ट हिकेल ने दो श्रेणियो में विभक्त किया हैं:–[1]

(Polythism)

(Fetictism)   (Demonism)

प्रथम श्रेणी की प्रवृत्ति में विश्वास करने वाले लोग निम्न-लिखित वस्तुओ में देवी-देवताओं का अस्तित्व देखते है:—

१. जड़ प्रकृति में   २. पाषाण में   ३. जल में

४. वायु में   ५. मनुष्य द्वारा निर्मित चित्र एवं मूर्तियों में

दूसरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत:—

१. वृक्ष,   २. पशु,

३. पक्षी,   ४. मनुष्य,

आदि सभी चेतन पदार्थों में देवी देवताओ के अस्तित्व को मानते है। प्रेत एवं आसुरी शक्ति से अज्ञान के कारण सदा से ही मनुष्य भयभीत होता चला आ रहा है। प्रकृति के किसी भी तत्व से जहाँ कही भी मनुष्य का अनिष्ट हुआ, उसने भयभीत होकर स्वयं की एवं अपने वंश की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये व्यक्तिगत बुद्धि के अनुसार प्रयास किया। इस चेष्टा में उसका अज्ञान तो छलकता ही है किन्तु साथ ही प्रकृति के अज्ञात रहस्यों के प्रति 'विस्मयभाव' भी प्रकट होता है।

1. The Riddle of the Universe, Page 226-227 (Thinker's Library Edition 3).

प्रकृति को स्वयं से शक्ति शालिनी मान, उसमें देवत्व की कल्पना कर पूजा, अर्चना के अनेक आचारों की सृष्टि कर डाली। इस पूजा-भाव में अनिष्ट निवारण की कामना से अधिक भय की भावना ही अधिक काम करती है। भूत प्रेत एवं अन्य अनिष्टकारी शक्तियों से डर कर मनुष्य ने उन रूप-विहीन तत्वों को भी साकारता देकर अपने जीवन को मंगलमय एवं निर्विघ्न बनाने के लिये अनुष्ठान एवं लौकिक विधियों की रचना की। यहाँ तक की भयंकर रोग भी देवता बन गये। हिन्दुओं में निम्न-लिखित रोगों के अधिष्ठातृ देवी-देवताओं का पूजन प्रचलित है:—

१. विसूचिका (हैजे) की देवी—मरी माता, भूखी माता।
२. शीतला की देवी—शीतला (बड़ी माता)।
३. सात दिन के विषमज्वर की देवी—छोटी माता।
४. मोतीझरा (विषम ज्वर के देवता—ओखा बापजी)
५. छींक माता।

धार्मिक सभ्यता के विकास में धर्म भय का प्रमुख आधार रहा है और जितनी भी धार्मिक मान्यताएँ और विधान है, उनमें भी एक आदिम मनुष्य की तरह धार्मिक भावना का उभार भय पर ही आधारित है।[1] विवाह के मांगलिक अवसर पर विघ्न और अनिष्ट आशंका के निवारण की ओर अधिक प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही है। विवाह के प्रसंग में विनायक को छोड़कर सुख-सम्पत्ति, वैभव और कला के अधिष्ठातृ देव-ताओ का पूजन प्रायः किया ही नहीं जाता। सामान्य जन-मानस अनिष्ट की आशंका से कितना त्रस्त एवं भयभीत है, यह उसका जीवित उदा-हरण है। भारतीय परम्परा की सर्वमान्य देवी लक्ष्मी और सरस्वती

1, 'An Indroduction to Social psychology'--Mc Dougall, Page 265.

इस अवसर पर भुलादी जाती है। केवल शक्ति की परिचायक विभिन्न नामधारिणी देवियों का अर्चन होता है। रातिजगे में पूजित तीन प्रकार के देवी-देवताओं के गीत प्रमुख हैं:—

१. मातृ-पूजन—कुलदेवी, अम्बा, दुर्गा, चामुण्डा आदि।

२. पूर्वज—पितर, जुझारजी, पीरजी, सती।

३. अनिष्ट एवं आसुरी प्रकृति के देवता–शीतला, भेरू (भैरव), मृतसौत।

माता 'कुल-देवी के गीत'

मातृ-पूजा की मूल-प्रकृति भारतीय आर्यों की अपनी उपज नहीं है। सिन्धु-सभ्यता के द्राविड़ लोगों में मातृ-पूजन का प्रचलन था। आर्यों ने भी भूमि को माता के रुप में स्वीकार किया—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' [१] किन्तु ऋग्वेदकालीन आर्यो ने मातृ-सत्ता के पूजन की प्रथा द्राविड़ो से सीखी। आर्यो को पितृ-देव सूर्य एवं मातृ-देव पृथ्वी के संबन्ध में और देवस्वरूप के लिये निश्चित धारणा नही थी। सिन्धु-सभ्यता के द्राविड़ों में जीवन और जगत की चेतना-शक्ति के सबन्ध में स्थिर मान्यताएं प्रचलित थी। प्रजनन की महान् शक्ति मातृ-देवी और प्रेरणा-सहायक पितृ-देव की कल्पनाएं अधिक सुदृढ़ रहस्य से पूर्ण, दार्शनिक एवं कलात्मक आधार लिये हुए है। [२] मातृ-देव संबन्धी विचारधारा द्राविड़ लोग अपने मूल निवासस्थान भूमध्यसागरीय एजियन प्रदेश के द्वीप, यूनान और एशिया-माइनर से लाये थे। माँ और 'हेत्रि' एशियाई मातृदेवी के

१. अथर्वेदीय पृथ्वी सूक्त (१२।१।१)।

2. "The History and culture of the Indian people Vol. 1 Page 158 chap–Race movement and Pre historic culture by S.K. chatterji.

नाम थे और उनका वाहन सिंह और साँड़ (नन्दी) थे। हिन्दुओं में उमा-महेश की पूजा इसी मूल आधार पर विकसित हुई। डॉ० परलुसकर की मान्यता है कि मातृ-पूजा का प्रारम्भ अनातौलिया या इससे आस-पास के प्रदेश में हुआ है और यह प्रथा विश्व की सभी जातियो मे किसी न किसी रूप में प्रचलित है। [1] भारतवर्ष के प्रत्येक ग्राम में देवी ग्राम-देवता के स्वरूप में विद्यमान है। अम्बामाता, अम्बा, काली, कराली, दुर्गा आदि अनेक नामो से ग्राम के लोग देवी का पूजन करते है।

मालव की सभी जातियाँ देवी का पूजन करती है। आमिषभोजी एवं शाकाहारो लोगो ने अपनी रुचि, आवश्यकता और स्वभाव के अनुसार देवी की पूजा को अपनाया। बौद्धधर्म को महायान शाखा के भ्रष्ट रूप से अनेक तांत्रिक एवं वामाचारो की जब सृष्टि हुई तो देवी-देवता भी माँस-मद्य से प्रसन्न होने लगे। आमिषभोजी लोग आज भी अजा-महिष आदि की बलि से देवी की उपासना कर भैरव-भवानी के 'प्रसाद'—मद्य माँस का सेवन करते है। शाकाहारी लोगों की उपासना उनकी रुचि के अनुकूल है। देवी केवल 'धूप-दीप' जैसे सामान्य पूजोपचार से ही सन्तुष्ट हो जाती है। देवी को प्रसन्न करने के लिए रात्रि-जागरण अवश्य किया जाता है। रात्रि-जागरण में देवियों की उपासना करना भी तांत्रिक एवं शाक्त कापालिकों की श्मसान-जगाने की साधना की याद दिला देता है।

देवी की पूजा के प्रसाधन बहुत ही सरल है। 'लापसी' जैसे मिष्ठान्न की धूप दी जाती हैं। नारियल की गिरी—'खोपरा' भी घृत के साथ अग्नि की 'लों' प्रज्वलित करने में सहायक होती हैं। 'लौ' जलती रहती है और गीतों का क्रम चलता रहता हैं। इन गीतो में देवी के स्वरूप का वर्णन, पूजा की विविध सामग्रियों का उल्लेख एवं सौभाग्य अखण्ड रखने

1. वही, Indus Valley civilization. Page 186.

की कामना प्रकट की गई है। देवी के रूपवर्णन में महिलाओं द्वारा दी गई विभिन्न उपमाएँ मौलिकता लिए हुए हैं—

सीस बागड़ियो नारेल् ओ माता,
चोटी बासिग बसी रया रे माय !
लिलवट ऊगो सूर ओ' माता,
पाटी चाँद पवासिया ए माय।
आँख्याँ आम्बा री फाँक ओ माता,
भाँपण भमरा भमी रया ए माय।
नाक सुआ री चाँच ओ माता,
होठ पनवाड़्याँ छई रया ए माय।
दाँत दाड़ म रा बीज ओ माता,
जीब कमल री पाँखड़ी ए माय।
बाँयाँ चम्पा केरी डाल् ओ माता,
मूंगफली-सी आंगल्याँ ए माय।
पेट पीपल् रो पान ओ माता,
हिवड़ो संचे ढालि्या ए माय।
जाँघाँ देवल् रो खंम्ब ओ माता,
पिंडल्याँ बेलण बेलिया ए माय।
पाँव रूपा री खान हो माता,
एड़ी संचे ढालि्या ए माय।
नाड़ी ए नारी कुंजी को घागरो,
राती मदरस री काँचली ए माय।
के तमने घड़िया रे सुनार ?
के संचे ढालि्या रे माय ?
नई म्हने घड़िया रे सेवग सुनार,

नई म्हने संचे ढालि़या रे माय।
रूप दियो करतार ने रे सेवग,
जलम दियो म्हारी मायड़ी ए माय।
कुल़देवी बायर आव,
तमारो रूप बखांणिया ए माय।[1]

देवी के नख-शिख का वर्णन है। इसमें भी जिज्ञासा प्रकट की गई है कि यह अनन्त सौन्दर्यमय नारी रूप किसी स्वर्णकार की कृति है अथवा उसने अपने कौशल की असम्भवता से सजग होकर साँचे में ढालकर इसका निर्माण किया है। इस जिज्ञासा-भरे प्रश्न का उत्तर देवी ही देती है—

"हे सेवक (भक्त) न तो मुझे सुनार ने घड़ा,
न मुझे साँचे में ही ढाला गया,
विधाता ने रूप दिया
और माता ने मुझे जन्म दिया है—"

स्त्रियों द्वारा नारी-रूप की कल्पना कितनी भव्य है। माता की 'कोख' से जन्म लेने वाली देवी का सामान्य स्वरूप एक स्त्री जैसा ही होना चाहिए। पौराणिक गाथाओं में वर्णित देवी के भीम-भयंकर और रौद्र-रूप की कल्पना नारी के कोमल-मानस में जाग भी नहीं सकती। यह देवी का आहवान-गीत है। आवाहन के पश्चात् पूजा की विविध सामग्रियों के समर्पण के गीत गाये जाते हैं—

खाजा खड़खड़ियाजी, नव नेवज्*तालि़या जी,
माता के मन्दर आवो जी,
भागीरथजी÷की रान्यांजी, कंता साथे आजोजी

---

1. ११७१।

*नैवेद्य

÷परिवार के विवाहित पुरुषों का क्रम से नामोल्लेख

सर-जोड़ियाँ पधारोजी,
मोत्याँ का आखा लाजोजी
तमारा चूड़ला री जतनाजी
तामारा बाल्ूडारी रक्स्याजी ।
मन्दर बाजोजी, माण्डे खेला×नाचेजी
अगड घडावाँ जी, माण्डे गूगगल् देवाँ जी
नव नेवज् तालि्याजी—माता के मन्दर आजोजी । १।७०

देवी के पूजन के लिये मैदे की गूंजिया और 'पूरी' के आकार की पापड़ी 'खाजा' एवं तेल में तली हुई अन्य वस्तुओं का नैवेद्य तैयार किया जाता है । कुंकुम के साथ चाँवल के अक्षत नहीं, अपितु मोतियो के अक्षत अर्पित किये जाने की कल्पना है । पूजन के लिये सपत्नीक मन्दिर जाना आवश्यक है । यही सौभाग्य के अखण्ड होने एवं पुत्र की रक्षा की कामना की गई है । गीत के उत्तरार्द्ध मे देवी के मन्दिर में वाद्य के बजने, हिंजड़ों के नाचने आदि के उल्लेख के साथ देवी को छत्र चढ़ाने एवं गूगल की धूप देने की 'मानता' है । देवी की पूजा में पुष्पार्पण भी आवश्यक है । चम्पा और बेला के फूलों का गीत में उल्लेख है । माला-ग्रन्थन का का काम भी सपत्नीक होना चाहिए—

माता रे दरबार चम्पा री डार
माता रे दरबार मोगरा री डार
कुण मोड़े डार, कुण गूँथे हार ?
=संकरलालजी मोडे डार, लाडी गूंथे हार,
ओ म्हारी माय, गुंथ्यो-गुंथायो हार
माता रा सीसे चढ़े !
ओ म्हारी माय ! बाल्ूड़ा ने अम्मर करे····१।६९

×हिजड़ा = वर अथवा वधू के पिता का नाम ।

'पूर्वज' के गीत—

विवाह के अवसर पर अपने पूर्वजों को निमन्त्रण देने एवं श्रद्धा के साथ स्मरण करने की प्रथा मालवा की सभी जातियों में पाई जाती है। ब्राह्मण धर्म में विश्वास रखने वाला अभिजात्न-वर्ग विवाह के शुभ कार्य को आरम्भ करने के पूर्व 'तिरपिण्डी'–त्रिपिण्डी श्राद्ध करता है। रामायण कालीन 'नान्दी-श्राद्ध' की यह एक अविच्छिन्न परम्परा जान पड़ती है, किन्तु महिलाएँ पूर्वजो का स्मरण और आवाहन—'रातजगा' के गीतो में करती है और गीत ही मानो श्रद्धांजलि के प्रमुख माध्यम है। पूर्व पुरुषों का श्रद्धा के साथ स्मरण करना कृतज्ञता का सूचक है, किन्तु प्रथा के पीछे एक मान्यता भी कार्य करती है कि पूर्वजो-पितरो की कृपा से वंश की समृद्धि की अखण्डता एवं वैभव बना रहता है। विवाह का धार्मिक उद्देश्य भी 'वंश-विस्तार' ही है। अतः इस अवसर पूर्वजों के गीतो मे भी यही भावना प्रकट की गई है। उपरोक्त दृष्टि से पूर्वजो को अनिष्टकर एवं आसुरी प्रवृत्ति के देवताओं की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। मृत सौत से स्त्रिया बहुत डरती है और पुरुष का एक पत्नी के मर जाने पर यदि दूसरा विवाह होता है तो मृत सौत का पूजन एवं स्मरण तथा तत्सम्बन्धी-लोकाचारों का पालन अवश्य किया जाता है।

स्वर्गवासी पितरों को गगन मे उड़ती हुई चिड़िया के द्वारा विवाह में पधारने का निमंत्रण भेजा जाता है—

सरग उड़न्ती साँवली, म्हारो सन्देसो लेती जा,
जई बूढा गल्ला से यूँ कीजे, तमारे घरे बरदोड़ा हो,
ताला जकड्या लोया का ने, जड़्यो बज्जर किवाड़।
काचा सूत का पालणां, बंद्या है सरग दुआर।
बरद करो बरदावणा, हमारो तो आवणो नी होय।[१]

१. मालवी लोकगीत पृष्ठ ८६।

राजस्थानी और निमाड़ी में भी कुछ भाषान्तर के साथ यही गीत प्रचलित है।[1] स्त्रियों की स्वर्ग के सम्बन्ध में कैसी विचित्र कल्पना है कि वहाँ लौह के ताले वज्र जैसे सुदृढ़ किवाड़ों पर लगे हैं और द्वार पर कच्चे सूत का पालना बंधा है। रतलाम मे प्राप्त एक गीत में पूर्वजों के निवास स्थान सम्बन्धी कल्पना कुछ और ही है। 'पितर' स्वर्ग में नही, पाताल में रहते हैं—

पितर पताळां में रमी रया
म्हारी माता ए कागद मेलियो, खोळ्या रा खेलण आव
म्हारी बेना बई कागद मोकळ्यो बाई रा' बन्धु घरे आव
पितर पताळाँ...............
म्हारी गोरी कागद मेलियो, सोगटा खेलन्ता सायबा घरे आव
पितर पताळाँ...............
यो तो रतलाम सेर सुआवणो, इत आछा आछा चीर बेंचाव
इत आछा आछा कड़ा बेंचाव, इत आछा कण्ठी बेंचाव
इत आछा आछा मोती बेंचाव पितर पताळाँ रमी रया।१।६०

इस गीत के उत्तरार्द्ध मे विभिन्न आभूषणों का उल्लेख है जो पूर्वजों को अर्पित करने के लिये परिवार का पुरुष-वर्ग श्रद्धा से खरीदता है। पूर्वज अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष मे भी रहते है—

म्हारा पिछवाड़े पूरबजाँ री पीपली,
डाळ्याँ ओ डाळ्याँ दिवा बळे
धूलजी सेवक तमारी पूजा करे, खेलो म्हारा बाला पूर्वज
रंग्यो यो आंगणो, छोटी बउवाँ पगाँ पड़े
डाल्याँ ओ डाल्याँ दिवा बले।१।५६

---

१. रामनारायण उपाध्याय, निमाड़ी लोकगीत, पृष्ठ १३ (भूमिका)

पूर्वज या 'पितर' वंश-संवर्धन के देवता माने गये है अतः इनके पूजोपचार के आयोजन की भावना में भी दिव्यता ही प्रकट की गई है। सोने और चाँदी की तराजू में केसर और कस्तूरी तोल कर लाये जाते हैं। पूजोपचार की वस्तुएँ क्रय करने में परिवार के पुरुषों के उत्साह का वर्णन किया गया है—

सुन्ना री डांडी ओ राजा, रूपा री डांडी ओ राजा !
तोले बेठो केसर-कस्तूरी, कित रे बालूडा सिद् चालेजी ?
यो तो गन्धीड़ो तोले ओ राजा, बालूड़ा '........'तोलावे
जीमजो ने भूलजो ओ राजा, फलजो म्हारा कड़वा नीमड़ा
चवदस का दिन आवजो, अमावस का दिन आवजो
बाड़ी का मिस वंस बढ़ावजो ।१।५५

चतुर्दशी और अमावस्या का दिन पितर पूर्वजो के श्राद्ध एवं पूजन की शास्त्र द्वारा निर्धारित तिथियाँ है। गीतों में भी इसका उल्लेख किया गया है। एक गीत में सेवा-पूजा करने की विधि का वर्णन है। सरोवर की पाल पर आम के वृक्षों की छाया के नीचे पितरो का 'लश्कर' आकर जम गया है—

सरवर पाल आम्बा री डाल, पूर्वजाँ रा लश्कर आया हो राज !
फल़ल् फल़ल् नद्याँ बेवेजी, पितराँ की धोत्याँ,....धोवे,
आपज् पधारो हो राज, पाटे पधारो ने नारेल़ बदारो।
खोपरा रा होम कराँवाँ हो राज ! फल़ल् फल़ल्........
सोना रूपा री चटट्याँ घड़ावाँ, राय रूपा री डंडिया हो राज।
रमता खेलता आव म्हारा पूर्वज या रमवा की बेल़ाँ हो राज !
फलल् फलल्...............१।५८

गुरूओं की कोपीन धोने की तरह पितरों की धोतियाँ धोना भी सेवा सुश्रूषा का एक प्रमुख लक्षरण है। नदियो के कल–कल–निनाद के लिये 'फल़्ल्-फल़्ल्' शब्द का प्रयोग किया गया है। पितरों को काष्ठ की चरण-पादुकाएँ नहीं, सोने-चाँदी की 'घड़ा' कर प्रस्तुत की जाती हैं। पितरों के गीतों के अतिरिक्त पूर्व-पुरुषों में 'जुझारजी' और 'पीरजी' के गीत भी गाये जाते है। जुझारजी शब्द ही प्रगट करता है कि युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुए पूर्वजो को स्मरण के गीतों में नही भुलाया जाता 'जुझारजो'—वीर दिवंगत योद्धाओं को रातजगा की परम्परा में स्मरण करने की प्रथा शायद राजस्थान से ग्रहण की गई है। वैसे मालवी राज-पूतों मे भी वीर परम्परा का अभाव नही है. किन्तु 'जुझारजी' के गीतों को निम्न-जाति के लोगो मे प्रचलित न पाकर यही धारणा संगत होगी कि राजस्थान से आई हुई राजपूत और ब्राह्मण जातियाँ ये गीत अपने साथ लेकर आई। यहां की अन्य जातियों में ये गीत नही गाये जाते पूर्वजों के गीतों की तरह जुझारजी के गीतों मे भी स्वागत के प्रसाधनों का उल्लेख किया गया है।

फूलों के मोती बिखेरे जाते है,
दूध से पैर धोये जाते है,
अच्छे-अच्छे वस्त्र अर्पित किये जाते है,
'जुझारजी' पालने में पोढ़ाया जाता है।
जुझारजी के प्रभाव से—
निर्धन को धन धन मिलता है,
कोढ़ो (कुष्ट-रोगी) एवं वन्ध्या का दुःख दूर होता है,
बाँझ को पुत्र प्राप्त होता है,

जुझारजी के गीतों की भाँति 'पीरजी' के गीतों में उक्त भावनाओं

को दुहरा दिया है। 'पीर' की पूजा मुसलमानी प्रभाव का इतिहास प्रकट कर सकती है, किन्तु पूजन-अर्चन में उसका पूर्णतः 'हिन्दी-करण' हो जाता है—

वारी ओ पीर जी, थारो परचो पायो जी।
परचो पायो जी, पराण सुख पायो जी—
ओ रायमल, तम भलाइ पदार्‍या !
ओ म्हाराज, तम भलाइ पदार्‍या ! १। ६६

पीरजी के लिये 'रायमल' एवं 'महाराज' शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है। 'पीर शब्द सन्तप्रवृत्ति के दिवंगत पुरुषों के लिये प्रयुक्त होता है एवं मुसलमानों के फकीरों की तरह नाथ-सम्प्रदाय के सन्तों की मृत्यु के पश्चात् उनकी 'दाह-क्रिया' न की जाकर, शव को भूमि में गाड़ कर उस स्थान पर समाधि बनाई जाती है। पीरजी के 'देवठान' पर यात्रियों की भीड़ लगी रहती है। उनके 'नवखण्ड' महल पर नौबत बजती है—

वारी ओ पीरजी, थारा पेंचा रो अदक सरूप
उँडी 'खो' में थारो देवरो, थारी नौबत बाजे जी !
मेंदी रा रात्याँ पाँव, नौबत बाजे नोखण्ड में जी
संख बजे धरती माँय, थारी नौबत बाजे जी
कै लख आये जातरी, कै लख आवे बालूड़ा री माँय १। ७७

पीरजी और जुझारजी भी पुत्र-कामना पूर्ण करने वाले देवता माने ये हैं।

भेरूजी के गीत

विवाह के गीतों में शीतला और भेरूजी के गीतों को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

विवाह के अवसर पर शीतला माता की पूजन की जाती है और उन्ही गीतों को प्रायः दुहराया जाता है जो पुत्र-जन्म के प्रसंग पर गाये जाते हैं। 'भेरुजी' के गीतों में बड़ी विचित्र परम्परा देखने में आती है। देवी-पुराण के अनुसार भैरव एवं 'बावन बीर' आदि देवी की सहायक शक्तियाँ हैं। मद्य–माँस आदि से इनका पूजनोपचार किया जाता है। शराब की धार से भैरव बहुत प्रसन्न होते है। रातजगा में गेय भेरूजी के एक गीत में कलालिन का उल्लेख आया है, जो भेरूजो की पूजा के लिए शराब लाती है—

बेन ए कलाल़न गलि़यारे घर थारो ए
गलि़यारे घर थारो ये, नीम तल़े घर म्हारो ए
बेन ए तम्बोल़न ये गलि़यारे घर थारो ए
बेन ए बजाजण ये गलि़यारे घर थारो ए
बेन ए मोचण ये गलि़यारे घर थारो ए
गलि़यारे घर थारो ने, नीम तल़े घर म्हारो ए
'काल़ूड़ो' भेरू आवेगा, झुक-झुक झोला खावेगा
म्हारी मनछा पूरण कर देगा, प्याला भर द्यो दूध का····१।६२

भैरव की पूजा के लिये कलाल़न के यहाँ से मद्य, तम्बोलिन के यहाँ से ताम्बूल, बजाजिन के यहाँ से वस्त्र और मोचिन के यहाँ से चरणपादुकाएं (चर्म की) लाई जाती हैं। किन्तु मद्य-सेवी भैरव के लिये दूध का प्याला भर देना कुछ अजीब सा लगता है। गीत-निर्मात्री स्त्रियाँ उच्च जाति की जान पड़ती हैं। अतः मद्य के उल्लेख के साथ ही भैरव को दूध अर्पण करने की भावना को भी वे अभिव्यक्त कर गई। वैसे निम्न जाति के पूज्य भैरव मद्य-मांस का खूब ही सेवन करते हैं और उपासकों को

वैसा ही प्रसाद भी मिलता है। भैरव तामसी प्रवृत्ति का देवता है, किन्तु कुछ गीतों में पुत्र-प्रदाता देव के रूप में उनका वर्णन हुआ है। स्त्रियाँ भैरव से पुत्र की याचना करती है—

लिप्यो-चुप्यो म्हारो आंगणों, दूधाँ रो भर्यो बाटको
दूधाँ रा पीवा वाल़ा दो जी !
अन्तर्जामी पाति दो नी ओ कड़वा नीम की।
भेरूजी ! माता रा जाया बीरा अत घणाँ ओ,
भुवा रा केवा वाल़ा दो जी ! अन्तर्जामी..........
भेरूजी ! सासू रा जाया देवर अत घणाँ ओ,
काका रा केवा वाल़ा दो जी ! अन्तर्जामी..........
भेरूजी ! ढोल्या रा पोढ़ण वाल़ा सुआवणा ओ,
पालणाँ रा पोढ़ण वाल़ा दो जी ! अन्तर्जामी.......
भेरूजी ! पागाँ रा बाँधण वाल़ा अत घणा ओ,
टोप्याँ रा पैरण वाल़ा दो जी ! अन्तर्जामी..........
भेरूजी ! थाल़्याँ रा जीमण वाल़ा अत घणाँ ओ,
तासक*का जीमण वाल़ा दो जी ! अन्तर्जामी.......

परिवार में वैभव एवं कुटुम्बीजनों की संख्या मे कोई कमी नहीं, केवल पुत्र के अभाव मे सब सूना लगता है। शीतला के गीत की तरह मालवे का यह गीत भी सर्व-प्रिय है। वात्सल्य-भावना की अभिव्यक्ति के साथ ही नारी की पुत्र-कामना का एक करुण दृश्य प्रस्तुत करता है।

---

१. एक गीत में भैरव की पूजा के लिये प्रयोजनीय वस्तु का उल्लेख हुआ है, जिसमें बाजोट (काष्ठ की वेदी), कलश (मिट्टी का), फूल (मरवा-मोगरा), छत्र, नारियल, दारू (शराब) आदि वस्तुओं के नाम गिनाये गये हैं।   *छोटी तश्तरी।

नारी में पुत्र-कामना इतनी उद्दाम है कि पर-पुरुष से यौन-सम्बध की भावना प्रकट करते समय लोक-नीति एवं समाज की मर्यादा का उन्हें कोई भय या ध्यान नही रह पाता। फिर वह व्यक्ति चाहे देवता हो या पुरुष ! एक गीत मे गूजरी को माध्यम बनाकर यह भावना खुलकर प्रकट हुई है। पुत्रप्राप्ति के लिये गूजरी भैरव का सामीप्य प्राप्त करती है। मालवी नारी की यह मान्यता है कि देव-पुरुष भैरव का संसर्ग पुत्रदायी होगा। किन्तु परिवार की मर्यादा और लोक-लज्जा के प्रति भी वह सजग रहती है। सास-ससुर, देवर-जेठ, ननंद आदि पारिवारिक व्यक्तियों से भय एवं संकोच बना रहता है। इस कार्य के लिये गूजरी स्वयं के पति से भी शंकित रहती है। भैरव जब एक नवयुवक पुरुष के रूप में गूजरी के सम्मुख उपस्थित होता है तब वह उपरोक्त संकोच और बाधाओं को प्रस्तुत करती है। भैरव सब सम्भावित बाधाओं के निराकरण की व्यवस्थित योजना प्रस्तुत करता है—

१. यदि गाँव के लोग, शंका करेंगे तो तुम्हें सेवा में प्रस्तुत कर दिया जावेगा, क्योंकि भक्त पर कोई शंका नही कर सकेगा।

२. यदि ससुर आपत्ति करेगा तो नौ लाख की सम्पत्ति देकर उसको सन्तुष्ट कर देंगे।

३. यदि जेठ देख लेगा तो घोड़े पर बैठाकर मालव की सीमा से उसको बाहर भेज देंगे।

४. यदि सास देख कर आपत्ति करेगी तो 'चौंसठ जोगनियाँ' छोड़ कर उसका दिमाग ठीक कर दिया जावेगा।

५. ननन्द पर 'बावन बीर' छोड़ दिये जावेंगे।

६. यदि विवाहित पति को आपत्ति होगी तो उसका दूसरा विवाह कर देंगे। दो स्त्रियों के बोझ से वह बेचारा परेशान हो जावेगा।

भैरव का यह गीत पुत्रवती—सुहागिन और पुत्रविहीन गूजरी की दयनीय स्थिति को लेकर तुलनात्मक शैली से प्रारम्भ होता है—

पांच करण की बावड़ी ओ सेलीवाल़ा !
भेरूजी लूंगाँ रयो रे बॅधाव. कुँअर ऊबा बावड़ी,
ओ सेलीवाल़ा !
सात सहेलियाँ रे झूमके. गूजरियाँ पानीड़ा जाय,
ओ सेलीवाल़ा !
सात इ ने ओढ़्या पोमचा. गूजरन को मेलो बेस.
ओ सेलीवाल़ा !
साताँ रे लिलवट टीलड़ी, गूजरन को सूनोरे लिलाट,
ओ सेलीवाल़ा !
साताँ रे साजन घर बसे, गूजरी रा बसे ओ परदेस,
ओ सेलीवाल़ा !

भैरव का स्थान शायद किसी पाँच कोण की बावडी के पास होगा। भैरव को 'सेलीवाल़ा' शब्द से सम्बोधित किया है। सेलीवाले भैरव की कल्पना शायद नाथपन्थी जोगड़े को देखकर की गई है। नाथपन्थी जोगी जब भिक्षा मांगने आते हैं तब भैरव का पूरा स्वांग बना लेते हैं। एक हाथ में खप्पर और दूसरे में त्रिशूल धारण करते हैं। कलाई एवं भुजाओं पर काले ऊन की डोरियों की पट्टियां बँधी रहती हैं। कमर और गले में भी काले ऊन की डोरियों की मालाएं रहती हैं। अधोवस्त्र लुंगी की तरह लपेट लिया जाता है। मस्तक पर सिन्दूर की आड़ लगाते हैं। किसी तरुण जोगी को देखकर महिलाओं ने भेरूजी के स्वरूप का वर्णन इस गीत में किया है। गूजरी की सात सखियां हैं जो पुत्रवती होने के कारण सौभाग्य का चरम फल प्राप्त कर श्रृंगारमय एवं गौरवपूर्ण

जीवन व्यतीत करती हैं। सातों ही सहेलियाँ गूजरी के साथ झूमती हुई पनघट पर जाती है। सब सहेलियों ने रेशमी वस्त्र धारण किये है। किन्तु गूजरी ने तो मलिन वस्त्र पहिन रखा है। सातों के मस्तक पर सौभाग्य का आभूषण—'टीलड़ी' सुशोभित हो रहा है किन्तु गूजरी का ललाट सूना है। सातों के पति घर पर ही है। अर्थात् वे संयोगमयी है और बेचारी गूजरी का पति तो परदेश में है, अतः पुत्रवती होने की उसकी कामना पूर्ण भी नहीं हो सकती।

सेलीवाले भैरव ने गूजरी का घूंघट उतार कर (हटाकर) छेड़छाड़ प्रारम्भ की।

—छोड़ो म्हारो रंग बिन छेवड़ो, देखे म्हारी नगरी का लोग,
ओ सेलीवाला !
छोड़ो हटीला म्हारो छेवड़ो, देखे म्हारा सुसरा ने जेठ;

भैरव और गूजरी के संवाद मे यह गीत नारी–मानस की अतृप्त वासना, सामाजिक दबाव, कठोरता और उनसे बचने के उपाय की मानसिक सन्तुष्टि को प्रकट करता है—

तमारे रखावाँ सेवा मांय ओ गूजरणी !
ससुरे देवाँ नवलखहार, जेठ बैठावाँ घोड़े अस्वार,
ओ सेलीवाला !
छोड़ो हटीला म्हारो छेवड़ो, देखे म्हारी सास-नणदलड़ी,
सासू के लगावाँ चोंसट जागणी, नणदल लगावाँ बाँवन बीर,
ओ सेलीवाला !
खेलत आवे चोंसट जोगणी, घूमत आवे बाँवन बीर,
ओ सेलीवाला !
छोड़ो रंग बिन म्हारो छेवड़ो, परण्या ऊबा हो म्हारे पास।

परण्या ने दोई परणावाँ गूजरी, बोझा मरेनी दिनरात,
ओ सेलीवाला !
मासुरा छाने तमारे पूजताँ, भेरूजी दोनी झडूल्यो पूत ।
जो तू हालरिया की साबली, माथे बँधावाँ थारे पालणो ।
ओ सेलीवाला !
जो तू हालरिया की साबली, आंगली लगावाँ लोड्यो बीर,
ओ सेलीवाला ! १।६३

गूजरी ने सास से छिपाकर पुत्र के लिये भेरूजी की पूजा की । भैरव प्रसन्न हो गये । यौन-भाव तो लुप्त हो गया और भैरव का अलौकिक प्रभाव प्रारम्भ हो गया । पुत्र के लिये गूजरी की विकलता देख भैरव ने वरदान दिया कि सिर पर पालना बांध देंगे और उसकी अंगुली का स्पर्श भैरव के छोटे गण (बीर) करेंगे, उसके द्वारा पुत्र प्राप्ति की मनोकामना पूर्ण हो जावेगी । मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अज्ञानवश कार्य-कारण से परिचित न होने की स्थिति मे नारी-मानस का यह विश्वास आज भी अडिग है कि किसी दैवीकृपा अथवा दैवी पदार्थ के स्पर्श से गर्भ में शिशु का अवतरण होता है । उक्त गीत मे मस्तक पर पालना बांधने और भैरव के सहचर 'बावनबीर' के द्वारा अंगुलियों का स्पर्श कर देने मात्र से पुत्र होने की मान्यता अन्ध-विश्वास का एक ज्वलंत प्रमाण है ।

उक्त गीत में 'टोने और टोटके' का भाव भी सन्निहित है । इस प्रकार का भाव भारत के सम्पूर्ण नारीमानस मे व्यापक रूप से व्याप्त है । डा० सत्येन्द्र ने ब्रज में प्रचलित विवाह के लोकगीतों मे इनका उल्लेख किया है । विवाह के अवसर पर 'उकडूी' पूजन के अवसर इसी तरह के 'टोने टोटके' किये जाते हैं । पांच कोण का आटे का दीपक बना जर कन्या अथवा वर पर न्यौछावर कर फेंका जाता है । उपरोक्त गीत

में 'पांच करण' की बावड़ी का उल्लेख हुआ है। चार कोण मनुष्य के हाथ-पैर के सूचक हैं और एक कोण मस्तक का प्रतीक है। यह टोटका अभिचार का एक अंग है। स्वयं के कल्याण के लिये नर-मुण्डों की बलि चढ़ा देना जंगली जातियो का तो अन्ध-विश्वास कहा जा सकता है किन्तु कापालिकों द्वारा दी जाने वाली नर-बलि के धार्मिक स्वरूप को देखकर इस परम्परा को नृशंस अभिचार का एक अंग ही मानना पड़ेगा। कापालिकों की क्रूर उपासना-पद्धति की स्मृतिया 'टोने-टोटको' के रूप मे आज भी रखी जाती है। स्त्रियां आज भी अपने शिशु के मंगल के लिए अन्य व्यक्तियो के बच्चो को लौह-शलाका से जला देती है, केश कतर लेती हैं। पुत्र-विहीना नारी यदि सन्तान-प्राप्ति की आकांक्षा में नारी-वर्जनीय कार्य करने के लिये उद्यत भी हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही। क्योंकि अन्ध-विश्वास एवं क्रूर अभिचारों के रूप में इस प्रकार की प्रथाएँ प्रचलित है।

इन गीतों मे कुछ परम्पराओ का अखण्ड प्रवाह दृष्टिगत होता है। रामायण मे लव और कुश के 'काकपक्ष' का उल्लेख आया है। आज भी देव को मान्यता (मानता) मे जो पुत्र प्राप्त होता है उसके केश रखे जाते हैं। इस प्रकार की मानता से रखे गये केश को 'झडूल्या' कहते हैं। वैसे 'झडूल्या' या काकपक्ष रखने की प्रथा बनजारे और मेवाड़ की घुमक्कड़ जाति गडूल्ये लुहारों में प्रचलित है। बच्चों की कनपटी के ऊपर केश रहते हैं। मस्तक का शेष भाग मुण्डित रहता है।

परण्या ने दोई परणावाँ गूजरी, बोझा मरेनी दिनरात,
ओ सेलीवाला !
मासुरा छाने तमारे पूजताँ, भेरूजी दोनी झडूल्यो पूत ।
जो तू हालरिया की साबली, माथे बँधावाँ थारे पालणो ।
ओ सेलीवाला !
जो तू हालरिया की साबली, आंगली लगावाँ लोड्यो बीर,
ओ सेलीवाला ! १।६३

गूजरी ने सास से छिपाकर पुत्र के लिये भेरूजी की पूजा की । भैरव प्रसन्न हो गये । यौन-भाव तो लुप्त हो गया और भैरव का अलौकिक प्रभाव प्रारम्भ हो गया । पुत्र के लिये गूजरी की विकलता देख भैरव ने वरदान दिया कि सिर पर पालना बांध देंगे और उसकी अंगुली का स्पर्श भैरव के छोटे गण (बीर) करेंगे, उसके द्वारा पुत्र प्राप्ति की मनोकामना पूर्ण हो जावेगी । मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अज्ञानवश कार्य-कारण से परिचित न होने की स्थिति मे नारी-मानस का यह विश्वास आज भी अडिग है कि किसी दैवीकृपा अथवा दैवी पदार्थ के स्पर्श से गर्भ में शिशु का अवतरण होता है । उक्त गीत मे मस्तक पर पालना बांधने और भैरव के सहचर 'बावनबीर' के द्वारा अंगुलियां का स्पर्श कर देने मात्र से पुत्र होने की मान्यता अन्ध-विश्वास का एक ज्वलंत प्रमाण है ।

उक्त गीत में 'टोने और टोटके' का भाव भी सन्निहित है । इस प्रकार का भाव भारत के सम्पूर्ण नारीमानस में व्यापक रूप से व्याप्त है । डा० सत्येन्द्र ने ब्रज में प्रचलित विवाह के लोकगीतो मे इनका उल्लेख किया है । विवाह के अवसर पर 'उकड्डी' पूजन के अवसर इसी तरह के 'टोने टोटके' किये जाते हैं । पांच कोण का आटे का दीपक बना जर कन्या अथवा वर पर न्योछावर कर फेंका जाता है । उपरोक्त गीत

में 'पांच करण' की बावड़ी का उल्लेख हुआ है। चार कोण मनुष्य के हाथ-पैर के सूचक हैं और एक कोण मस्तक का प्रतीक है। यह टोटका अभिचार का एक अंग है। स्वयं के कल्याण के लिये नर-मुण्डों की बलि चढ़ा देना जंगली जातियो का तो अन्ध-विश्वास कहा जा सकता है किन्तु कापालिकों द्वारा दी जाने वाली नर-बलि के धार्मिक स्वरूप को देखकर इस परम्परा को नृशंस अभिचार का एक अंग ही मानना पडेगा। कापालिकों की क्रूर उपासना-पद्धति की स्मृतियां 'टोने-टोटकों' के रूप में आज भी रखी जाती है। स्त्रियां आज भी अपने शिशु के मंगल के लिए अन्य व्यक्तियो के बच्चो को लौह-शलाका से जला देती है, केश कतर लेती है। पुत्र-विहीना नारी यदि सन्तान-प्राप्ति की आकांक्षा में नारी-वर्जनीय कार्य करने के लिये उद्यत भी हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही। क्योंकि अन्ध-विश्वास एवं क्रूर अभिचारों के रूप में इस प्रकार की प्रथाएँ प्रचलित है।

इन गीतो मे कुछ परम्पराओ का अखण्ड प्रवाह दृष्टिगत होता है। रामायण मे लव और कुश के 'काकपक्ष' का उल्लेख आया है। आज भी देव की मान्यता (मानता) मे जो पुत्र प्राप्त होता है उसके केश रखे जाते हैं। इस प्रकार की मानता से रखे गये केश को 'झडूल्या' कहते हैं। वैसे 'झडूल्या' या काकपक्ष रखने की प्रथा बनजारे और मेवाड़ की घुमक्कड़ जाति गडूल्ये लुहारें में प्रचलित है। बच्चों की कनपटी के ऊपर केश रहते हैं। मस्तक का शेष भाग मुण्डित रहता है।

९

मालवी लोक पहेलियाँ

पहेलियाँ मानवी ज्ञान की एक ऐसी परम्परा है, जिसका सार्वभौम अस्तित्व है। यह परम्परा प्राचीनकाल से लेकर आज तक अबाध रूप से चली आ रही है। भारत में ही नहीं अपितु संसार की अन्य जातियो में भी पहेलियों का प्रचलन पाया जाता है। वैदिक साहित्य, कुरान एवं अरबी–फारसी में पहेलियाँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। भारत की तरह पुरातन मिश्र एवं यूनानी लोगो में भी पहेलियों का प्रचलन था[1] सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक अरिस्टोटल ने पहेलियों के उद्गम की ओर संकेत दिया है। प्रकृति के छिपे रहस्यों को समझने में जहाँ मानवी बुद्धि ने प्रयास किया, वही प्रहेलिका जैसे साहित्य का आविर्भाव हुआ होगा। वैदिक ऋषियों ने विराट प्रकृति के अज्ञात रहस्यों के प्रति अपने विस्मय और कौतूहल को प्रकट किया था। बाद के दार्शनिकों ने उस रहस्य की व्याख्या कर बौद्धिक जिज्ञासा का एक तरह से समाधान प्रस्तुत किया। इस तरह वैदिक काल से ही भारत में पहेलियों की परम्परा का स्रोत उमड़ता चला आ रहा है। अश्वमेघादि यज्ञों के समय वैदिक होता (होतृ) एवं ब्राह्मणों के लिये ब्रह्मोदय के रूप में पहेलियों का एक विशिष्ट स्वरूप ही प्रचलित हो गया था। उक्त प्रथा ने बाद में एक लोकाचार का स्वरूप धारण कर लिया। प्राचीन भारतीय कला–विलास में "पहेलियाँ बूझना"

---

१. चेम्बर्स इन्साइक्लोपीडिया, नया संस्करण, ग्रन्थ ९, पृष्ठ ६९१

उच्च कोटि के मनोविनोद के अन्तर्गत मान लिया गया। वात्स्यायन के कामसूत्र मे एक स्थान पर यह कहा गया है, नागरिकों की जो उद्यान-गोष्ठियाँ हुआ करती थी, वहाँ चर्चा और मनोविनोद मे काव्य-प्रहेलिकाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान होता था। कमल के फूल बिछा दिये जाते थे इकार, उकार आदि की मात्राएं लगा कर रसिक (सहृदय) नागरिकों से पूरे श्लोक का "उद्धार" करने को कहा जाता था। यही परम्परा आगे चल कर अमीर खुसरो और बीरबल की छन्दोबद्ध रचनाओ में विकसित हुई।[1] वैसे संस्कृत साहित्य मे चौसठ कलाओ के उल्लेख में प्रहेलिका की भी गणना की है।

प्राचीन साहित्य में पहेलियो के प्रचलन को देखकर उसकी प्रवृत्तिगत विशेषताओ का विश्लेषण करने से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते है कि ये पहेलियाँ विशिष्ट वर्ग की वस्तु रह कर केवल सम्भ्रान्त अथवा बुद्धिवादी लोगो के बुद्धि-विलास के क्षेत्र में ही सीमित नही रहीं, वरन् जन-सामान्य मे भी उसका सर्वाधिक प्रचार रहा है। संसार की सभ्य कही जाने वालो अनेक जातियो के अतिरिक्त आज की आदिवासियों की परम्पराओं में भी पहेली–प्रथा का सर्वाधिक प्रचार है। अभिजात्य साहित्य ने लोक-परम्परा से पहेलियो को ग्रहण किया है। आधुनिक युग के सभ्य और सुशिक्षित व्यक्ति तो पहेलियो के बुद्धि-वैभव से दूर रह कर उसे बालकों की वस्तु मानते है, किन्तु ग्रामीण समाज अशिक्षित होते हुए भी परम्परा के कारण ज्ञान एवं कौतूहलगत बुद्धि–विलास को पहेलियों के रूप में सुरक्षित रखता चला आ रहा है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मालवी की लोक-पहेलियों में प्राप्त हो सकेगा। भारत के प्रत्येक जनपद

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य–सम्पादक अज्ञेय, पृष्ठ ६१।

में इस प्रकार की पहेलियों का प्रचलन है और लोक-साहित्य की मौखिक परम्परा में ही उनका अस्तित्व चिर-जीवित है।

फ्रेजर के कथनानुसार पहेलियो का अविर्भाव उस समय हुआ होगा, जब कुछ कारणों से वक्ता को स्पष्ट बात कहने मे किसी प्रकार की कुछ अड़चन या असुविधा पड़ी होगी।[1] किन्तु विभिन्न भाषाओं की पहेलियों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है कि जानकर व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के ज्ञान को परखना चाहता है। हमारा असाधारण ज्ञान अज्ञानियो के लिये कौतूहल और जिज्ञासा का विषय बन जाता है। एक प्रकार से यह एक बुद्धि-वैभव का खेल है। मनोरंजन के साथ स्वयं के ज्ञानविलास में अन्य व्यक्ति के अज्ञान का मजाक उड़ा कर, कुछ क्षणो के लिये हास्य का वातावरण उत्पन्न करना ही इन पहेलियो की उत्पत्ति का कारण हो सकता है। ये पहेलिया वक्ता के लिये तो अस्पष्ट हो नहीं सकती। पहेलियो का उत्तर जिस व्यक्ति से पूछा जाता है, उसके लिये अस्पष्टता संभव है। एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी इन पहेलियों के सम्बन्ध में विचारणीय है। प्रश्नकर्ता अपने ज्ञान की श्रेष्टता को सिद्ध करना चाहता है। किन्तु इस प्रदर्शन मे अहंपोषण की एकांगी प्रवृत्ति नही है। इसका सामाजिक आधार है। व्यक्ति समष्टि को अपने ही स्तर के अनुकूल बनाने की आकांक्षा भी रखता है। तभी तो वह चुनौती देता है—

मालवी पहेलियाँ

- जो हमारी वारतां नी बूजे, ऊ भाटा को टोल।
- जो हमारी बारतां नी बूजे, ऊंको बाप बलई।
- जो हमारी बारतां नी बूजे, ऊ गाम को बलई।

---

१. दि गोल्डन बो, ग्रन्थ ६, पृष्ठ १२१–२२।

निमाड़ी पहेलियां

- जो हमारी बारतां नी बूजे, ऊंको बाप डूंगर गारी ।
- जो हमारी बारतां नी ताण, ऊंको बाप नाई ।
- जो नी हमारी बारतां ताण, ऊके हनुमान बाबो खाय ।

पहेलियों का उत्तर देने में असमर्थ व्यक्तियों को "भाटे का टोल" अर्थात् निपट गंवार एवं मूर्ख कहना, उसको अथवा उसके बाप को बलई नाई आदि निम्न जाति का बताना, अप्रत्यक्ष रूप से एक गाली हो सकती है । किन्तु लोग इसे गाली मानकर भी बुरा नही मानते । क्योंकि यहां उनकी बुद्धि को चुनौति दी गई है । पहेली का यथोचित उत्तर देकर वे भी सम्मानित स्थिति को प्राप्त कर सकते है । अतः यहां यह स्पष्ट है कि एक जानकार व्यक्ति समाज को अज्ञानता की स्थिति के लिये कोसता है, हेय एवं निम्न कोटि का घोषित कर ज्ञान प्राप्ति के लिये उनको उकसाता है । इस निहित उद्देश्य के अतिरिक्त पहेलियों के लिये प्रयुक्त विभिन्न शब्दो का विवेचन करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्पष्टता या गूढ़ता वक्ता के लिये न होकर श्रोता के लिये ही वह एक समस्या उत्पन्न करती है । पहेली को अंग्रेजी मे "रिडिल्" कहा गया है । सकर्मक क्रिया के रूप में उक्त शब्द का अर्थ है–समझाना या व्याख्या करना, कहना, हल निकालाना आदि । अकर्मक क्रिया के रूप में जब उक्त शब्द का प्रयोग होगा तो उसका तात्पर्य गूढ़ अथवा अस्पष्ट कहने से होगा । "रिडल" (पहेली) एक ऐसी भूल-भुलैय्या या चक्कर में डालनेवाली गूढ़ोक्ति है जिसे समझने में मस्तिष्क पर जोर देना पड़ता है । सहज ही समझ में न आने वाली उक्ति को ही पहेली कहा जायगा ।[1] उक्ति की उलझन या अस्पष्टता ही पहेली का मूल आधार है । इसी उलझन को दूर करने

---

१. वेब्सटर्स डिक्सनरी के आधार पर पृष्ठ १४६४ ।

अथवा सुलझाने के लिये मालवी, राजस्थानी, पंजाबी आदि मे "बूझना" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रवृत्ति को लेकर पहेलियों के दो रूप विकसित हुए।

१. शिष्ट अथवा शिक्षित समाज मे काव्य-विलास के रूप मे पहेलियों का निर्माण होने लगा। इसमे शब्द के वर्ण, मात्रा, एवं अर्थ आदि को लेकर निर्मित की गई पहेलियाँ भी सम्मिलित है। संस्कृत में प्रचलित—"पंचवरा न पांचाली, द्विजिह्वा न च सर्पिणी" [1] जैसी परम्परा भारत की अन्य भाषाओ की पहेलियो मे भी अपनाई गई। शब्द के आदि-मध्य और अन्त के अक्षरो की मात्राओ के उच्चारण का आधार लेकर तामिल में अनेको पहेलियो का निर्माण किया गया है। इन्हे "पुदिर्" (पुतिर्) कहा जाता है। इसी तरह मराठी मे "कोडॅऽ" अथवा "उखाणे" भी व्यापक रूप से प्रचलित है।

२. लोक-पहेलियाँ—इस प्रकार की पहेलियाँ साधारण स्त्री-पुरुषो के मुख पर नाचती रहती है। ग्रामीण समाज इसमें अधिक रस लेता है। छोटे बालक-बालिका भी बुद्धि की परख के इस खेल मे पीछे नही रहते।

मालवी मे पहेलियों को बारताँ, केणी, पारसी और प्याली कहा जाता है। इन पहेलियो को दो भागों मे विभक्त कर सकते है।

मालवी पहेलियाँ

गेय (पारसी या प्याली)　　　　अगेय (बारता या केणी)

गेय पहेलियां लोक-गीतों के अन्तर्गत आती है। सामान्यतः विवाह

---

१. "लेखनी" से तात्पर्य है।

आदि के अवसर पर जमाई की बुद्धि-परीक्षा के लिये स्त्रियों द्वारा "पारसी" गाई जाती है। यह लोकाचार का एक अंग बन गई है। मालवी में गेय पहेली के लिये प्रयुक्त "पारसी" शब्द विचारणीय है। वैसे पारसी और फारसी शब्द मे बहुत कुछ साम्य भी है। पारसी का मूल फारसी शब्द ही जान पड़ता है। क्लिष्टता के कारण कठिनाई से समझ में आनेवाली फारसी भाषा की लाक्षणिकता ही उक्त शब्द-ग्रहण का कारण हो सकती है, और इसी दुर्बोधता के कारण पहेलियो को मालवी में पारसी कहा जाता है। पारसी शब्द मालवी मे सम्भवतः गुजराती भाषा से ग्रहण किया गया है। अर्वाचीन गुजराती में भिन्न-भिन्न धन्धे करने वाले लोगों की गुप्त भाषा को, साकेतिक बोली को "पारसी" कहते है। व्यापारी और दलालो की पारसी होती थी। इस समय यह शब्द प्रायः व्यवहार में नही आता।[1]

मालवी की गेय पहेलियां–"पारसी"

विवाह के अवसर पर पहेलियां कहने की प्रथा अधिक व्यापक है। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले लोक-गीतो मे पारसी भी एक आवश्यक अंग है। विवाह के समय या "आणा" लेने के लिये[2] वर जब ससुराल जाता है, मनोरंजन एवं स्वागत करने की दृष्टि से पारसी का गाया जाना आवश्यक समझा जाता है। पारसी बूझते समय जमई के लिये हठीला, साजन, राजन, चतर मायबा आदि विशेषणो का प्रयोग कर हृदय की स्नेह-सम्मानगत भावना को प्रकट किया जाता है। कभी-कभी वर के पिता से भी पारसी का अर्थ पूछा जाता है। इस तरह के लोकाचार का पालन भारत की अनेक आदिम जातियो में किया जाता

---

१. बद्रीप्रसाद साँकलिया का लेख, राजस्थान भारती, पृष्ठ २९२।
२. द्विरागमन की प्रथा से तात्पर्य है।

है। विवाह के अवसर पर मंड़ला के गोड़, प्रधान और बिहोर आदि जातियों में पहेली बुझाने की प्रथा का उल्लेख डा० वेरियर एल्विन एवं आर्चर ने भी किया है।[1] यह एक आश्चर्य की बात है कि भारत के इन आदिवासियों की प्रथा को मालवी एवं राजस्थानी महिलाओं ने किस प्रकार अपना लिया। जो कुछ भी हो, सम्पूर्ण मालव में पारसी, मनोरंजन के साथ ही विनोदभरी चुटकिया लेने का एक अनुपम साधन है। जिस प्रकार अगेय पहेलियो का अर्थ बतलाने मे असमर्थ को "मूरख" या "भाटे का टोल" कहने में कोई नही चूकता, उसी प्रकार पारसी को बूझने में असमर्थ व्यक्ति को शर्त के साथ चुनौती दी जाती है–

- चतर होय जो समझी जाय, मूरख फिर फिर जाय।
- जो बूजे ऊ मरद, नी तो गंवार गोता खाय।
- बूजो बेवई (समधी) म्हारी पारसी, नी तो हारो घर की नार।
- केवो चतर म्हारी पारसी, नी तो लागे दोवड गोठ।

यदि पारसी बूझने मे असफल हुए तो "घर की नार" हारने या "दोवड़ गोठ" (दोनों ओर का प्रीतिभोज) देने की बात कही जाती है। किन्तु हास–परिहास, चुटकी एवं व्यंग्य–विनोद में बुद्धू बन जाने पर भी लोग सामाजिक-रस का आनन्द लेकर अपने को भाग्यशाली मानते है।

पारसी गाते समय मूल पहेलियों के साथ गेयता की दृष्टि से निम्न-लिखित पंक्तियाँ भी जोड़ दी जाती है:—

१. सुरतां करो विचार,
२. चतर होय तो समझी जाय, मूरख पाछा फिर-फिर जाय।

---

१. दि इन्डियन रिडिल बुक, ग्रन्थ १३ व १४, दिसम्बर १९४३।

३. बूजो बेवई म्हारी पारसी, नी तो हारो घर की नार ।

४. नुकली (नकली) होय तो नुकल बताश्रो,
म्हारी पारसी को अरथ बतावो बना ।

५. केवो सिरदार म्हारो पारसी, नी तो लागे दीवड़ गोठ ।

६. म्हार घड़ा मारूजी,

पारसी के पूरे गीत निम्न प्रकार से बनते हैः—

० मोती बिखरया चन्नन चोक मे
म्हारी बई मे सोरया नी जाय । घडा मारूजी ।

० नौ सौ जण्या ने नौ सो पेट मे, नौ सो बडला क हेठ । घड़ा मारूजी ।

० उदियापुर की चूनरी ओढूं बार–तेवार । घड़ा मारूजी ।
ओढनवाली पदमणी जी निरखनवालो गिवार ।

बूजो नी बेवई (जमई) म्हारी पारसी
नी तो हारो घर की नार (माय) । घड़ा मारूजी ।

० लीला कुवा को लीलो पानी, हम लीला हो जावांजी बना ।
नुकली होय तो नुकल बताओ,
म्हारी पारसी को अरथ बताओजो बना ।

० चलतां घसेजी बैठा वा हंसे, ऊबा रेवेजी वा चुप्प ।
केवो सिरदार म्हारी पारसी, नी तो लागे दोवड़ गोठ ।
गोठ गुठिला खई गया, जमई जी चाटे होठ ।

रेखांकित पंक्तियाँ मूल पारसी हैं एवं अन्य पंक्तियाँ गेयता (धुन विशेष में गाने के लिये) एवं व्यंग्य-विनोद की दृष्टि से जोड़ी जाती हैं । इन पहेलियों के रचना-विधान में छन्द, मात्रा या पंक्तियों की दृष्टियों से कोई

नियमितता नहीं मिलेगी। रचना-विधान की दृष्टि से पारसी के चार प्रकार प्राप्त होते है—

१. दोहे छन्द की पूर्णता से युक्त पारसी।[1]

२. कुछ पारसियो में केवल एक पंक्ति द्वारा ही भाव प्रकट कर दिये जाते है—

- भैस व्याणी ने पाड़ो पेट मे चीको गयो गुजरात।
- माय मोड़ी बेटी भीतरी, छोरा-छोरी एंडा-बैडा होय।
- लीलो चूड़ो, लीली काँचली, लीलो मारूणी को वेस।

उक्त पंक्तियों में 'घड़ा-मारूजी' आदि पंक्ति को जोड़ कर छन्द को पूरा एवं गेय बनाया जाता है।

---

१. पारसी के गूढ़ अर्थ की प्रवृत्तियो से युक्त दोहो का प्रयोग सोरठी गीत-कथाओं में भी हुआ है। इन गेय पहेलियो को समस्या कहा गया है। प्रेम-गाथाओं में नायिका की ओर से कुछ समस्याएं प्रस्तुत की जाती हैं, और उसका समाधान प्रस्तुत करने वाले नायक की बुद्धिगत योग्यता परखी जाती है। सही-सही समाधान कर देने वाले नायक का प्रणय सम्बन्ध विवाह के द्वारा दृढ़ हो जाता है। गुजराती लोकगीतों में प्रचलित "समस्या" एवं मालवी की गेय पहेली-'पारसी' में विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। केवल प्रयोग-प्रसंग में ही अन्तर है। पारसी विवाह के अवसर पर गाई जाती है और उसकी प्रवृत्ति मुक्तक जैसी है। गुजराती की 'समस्या' कथा-विशेष का एक आवश्यक अंग है। उसका विवाह के गीतों से कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ गुजराती समस्याएं (पहेलियां) उल्लेनीय हैं—

१. लंक लपेटण सीतहर नहीं लंकापत राव।

३. चौपाई जैसी अर्धालियाँ, जिसमें तुक भी मिलती है—

० जलभरी झारी सिराने धरी। सारी-सारी रैन हूं प्यासा मरी ।।

० सोला हाथ की साड़ी सिराने धरी। सारी-सारी रैनहूं ठंडा मरी ।।

४. वर्ण्य-विषय के अनुसार कम या अधिक पंक्तियां। इनकी संख्या निर्धारित नही होती—

० जंगल जाना, लकडी लाना, आली नी लाना, सूखी नी लाना।
लकड़ी लई ने, जल्दो आना (सर्प)

० आओ कंवर, तम घरणा दिनां में आया,
बालपरणा की तमारी अवस्था,
आता इ मचाई भारी धूम (खटमल)

भावों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के काररण इन पारसियो में एक

❀ जे कारण कौरव हण्या (ते) मोकल म्हारा राव ।।

—जो लंक-लपेटन है (लंका का रक्षक; कमर पर लपेटा जाता है) सीत (सीता, शीत) का हरण करने वाला है, किन्तु लंकापति रावण नहीं है। लंक एवं शीत शब्द में श्लेष का सौन्दर्य मार्मिक है। जिसके कारण कौरव सैन्य का संहार हुआ, हे राजा वह वस्तु मेरे लिये भेजना।

द्रौपदी के चीर-हरण के कारण ही महाभारत हुआ था। उक्त पहेली का उत्तर हुआ 'रेशमी चीर'।

२. गजमंडल हस्तीचढ़ण वेश्यावल्लो जेह।
अबला केरूं आभरण आणी आपो ऐह ।।

—स्त्री जाति के शोभा-शृंगार के चिन्ह सिन्दूर से तात्पर्य है।

—विस्तृत अध्ययन के लिये देखें, सोरठी गीत कथाओं (गुजराती) पृष्ठ ५–१२

समान रचना-विधान मिलना संभव भी नही है। केवल गेय तत्व को प्रमुखता देने का ध्यान अवश्य रखा जाता है। इन गेय पहेलियों में सामान्यतः जीवन की देखी-परखी वस्तुओ का ही वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ कल्पना बहुत ही सहजगम्य है, और पहेली के उत्तर के संकेत भी उसी में स्पष्ट हो जाते है। साम्यमूलक आकृति, वर्ण या गुण के आधार पर निर्मित इन पारसियों में उपमा की छटा भी निखर उठती है—

- मुई सरीकी पातली जी,म्हाने जेबां में राखोजी बना। (पेन)
- चांदी सरीकी चमकूं जी, म्हाने हाथां मे बाधो जी बना।
  (घड़ी की चेन)
- केवड़ा सरकी बासूं जी म्हाने माथां में राखो जी बना। (इत्र)
- कोयला सरिकी कालो जी, म्हाने नेनां में राखो जी बना। (काजल)

पहेलियों में प्रस्तुत विषय-वस्तु युग के साथ परिवर्तित होती रहती है। नारीमानस नवीन वस्तुओ को लेकर पहेलिया गढ़ने मे अधिक सजग दिखाई पड़ता है। साबुन, घड़ी, पेन, आदि पर प्रचलित पारसी अपने आविर्भाव के युग को स्पष्ट कर देती है। इस प्रकार की पहेलियो की आयु अधिक नही है। किन्तु विवाह के अवसर पर इन पारसियों के पहिले परम्परा-निर्वाह एवं लोकाचार को सम्पादित करने की दृष्टि से पांच पारसियां आवश्यक रूप से गाई जाती है। रूढ़िगत लोकाचार के निर्वाह के लिये निम्नलिखित पारसियों का अधिक महत्व है:—

- सोले हाथ की साड़ी सिराने धरी।
  सारी सारी रैन हूं तो ठन्डा मरी॥ (जाजम)

—बिछाने की वस्तु जाजम अथवा सोलह हाथ लम्बी पगड़ी से कही शीत का निवारण भी हो सकता है ?

० जलभरी झारी सिराने धरी,
सारी सारी रैन हूं तो प्यासा मरी ।। (इत्र की शीशी)

—इत्र की शीशी का आकार जल से भरी हुई सुराई के समान ही होता है, किन्तु शय्या के पास सिराहने धरी हुई किसी इत्र की शीशी से प्यासे व्यक्ति की प्यास तो नहीं बुझ सकती !

० मेवा ❀ की छाब म्हारा सिराने धरी ।
सारी सारी रैन हूं ती भूखा मरी ।। (पुष्पहार)

—पुष्प-मालाओं से घ्राणेन्द्रिय तृप्त हो सकती है, किन्तु वर्णसाम्य के कारण उसे मावा (खोवा) मानकर भूख तो नही मिटाई जा सकती । कही कही पर उक्त पारसी का उत्तर लोग-सुपारी कह कर भी दिया जाता है ।

० चम्पा की डाली म्हारे सिराने धरी ।
सारी सारी रैन हू तो बासा मरी ।। (लोग)

० वो लाया डाबा आली सोड, वा सोड म्हारे सिराने धरी ।
सारी सारी रैन हूं तो धरत्यां पड़ी । (पलंग)

इस प्रकार की पहेलियों में शृंगार-प्रसाधन की सामग्री का ही आधार रहता है । वैसे स्त्रियो द्वारा गेय पहेलियों में घर की सामान्य वस्तुएं, आभूषण, पुष्प, पशुपक्षी, सूर्य-चन्द्र-तारे आदि का समावेश भी रहता है । इन पहेलियों से नारी-मानस का बौद्धिक स्तर सहज ही परखा जा सकता है । कभी-कभी साधारण लोकगीतों की तरह 'पारसी' में सामाजिक दृष्टिकोण, अन्ध-विश्वास, यौन-कुण्ठाएं आदि भी प्रकट हो जाते हैं । विवाह के लोकाचार में गेय पहेलियों का जो विधान है, उसका मनो-

❀ पाठान्तर—मावा ।

वैज्ञानिक महत्व भी स्पष्ट ही है। सामान्य नारीमानस पुरुष से चतुरता की अपेक्षा रखता है। चतुर व्यक्ति ही गृहस्थ जीवन में पत्नी को सुखी एवं तुष्ट रखने के साथ ही उसकी प्रेम-पोषक भावनाओं को समझ सकता है। नवीन दम्पत्ति के लिये भी ये पहेलियां मानो प्रणय–संपोषण की प्रेरणा देती है। प्रणय-क्षेत्र की उस कोमलता को समझना और यौवन के सिंहद्वार पर पहुंचने वाली नारी की भावना का सम्मान करना पुरुष का सहज कर्तव्य हो जाता है। दाम्पत्य–जीवन में पति की अनुकूलता को भारतीय नारी अपना सौभाग्य मानती है, जीवन को धन्य समझती है:—

बड़ी बड़ी ढीक का साजनिया,
प्याली ❀ की नाजुक बातां हो साजनिया,
केवो हो चतर पारसी,
प्याली को अरथ बताव हो साजनिया।
धन होती चतर गोरड़ी, कंई जाणे यो बापड़ो,
कंई जाणे गदड़ी को गुवाल, धन होती चतर गोरड़ी।
सेजां पे देती आलीजा के अरथाय,
प्याली की नाजुक बातां हो साजनिया।

उक्त पंक्तियां भी पारसी के साथ गाई जाती हैं। यहाँ अनाड़ी, अरसिक एवं पहेली बूझने में असमर्थ व्यक्ति की मखौल उडाई है। कुछ रोचक पारसियां दी जा रही है, जिनसे मालव के नारी-मानस की कल्पना शील एवं भावनाजन्य स्थिति का सहज ही अनुमान लग सकेगा।

१. आम्बा री डाल दिवो बलॆ, काजल पड़ेरे खण्डार।
आंजनवाली पातलीजी, निरखन वालो गिवांर॥
(सिसपेम—पेन्सिल)

❀ गेय पहेली "पारसी" के लिये प्रयुक्त शब्द।

२. अस्मी रे तोला को सांकलो, पड्यो बीच बजार ।
चतर होय तो मोलवे, मूरख गोता खाय ।।
—सांप (सर्प)

३. उंचो रे मेडी राव की, काजल पडे रे खण्डार ।
आजनवाली पदमणी रे, निरखन वालो गिवांर ।।
—दवात-कलम

४. एक अचम्बो म्हें सुण्योजी, मुरदो आटो खाय ।
बतलावे बोले नई जी, मारे से चिल्लाय ।।
—मृदंग

५. एक अचम्बो म्हें सुण्योजी, पिण्डलो ग्याबन होय ।
पिण्डली बेटा जण लियाजी, दूध कां से होय ।।
—बालो (नारू रोग)

६. एक अचम्बो में सुण्योजी, बेटो जायो बाप ।
सिल डूबे बत्तो तिरेजी, जल में आयो पाप ।।
—घी छाछ

७. एक सखी यूं के बोली, म्हारा पियुजी गया परदेस,
वी लाया सुगन भरया फूल, वी फूल म्हारा पास धरया था,
जिकां मांय अगन भरी थी । —लहसुन

८. एक सखी यूं के बोली, म्हारा पियुजी गया परदेस,
वी लाया गंगाजल झारी, ऊंका मांय सुगन भरी थी ।
—इत्र की शीशी

९. काला कुवा को कालो पानी, हम काला हुई जावांजी बना ।
—जामुन

१० काका के तो कान नई जी, काकी को तो सरदा नई है।
तोबी काकी जात जिमाय,
चतर म्हारी प्याली रो अरथ बताव। ––तवा एवं कढ़ाई

११. कीड़ी चाली सासरे, नौ मण मेंदी लगाय।
––दही बिलोने की मटकी

१२. घागरो ऊंको घेरदार, चोली ऊंकी तंग,
सोला देवर छोड़के गई जेठ के संग –अरहर की फली

१३. जानम बिछाई चन्नन चौक में, मारूजी, म्हार से समेटी नी जाय।
ओ हटीला सायबा, म्हारी पारसी रो अरथ बताव। –धरती

१४. जद ऊंका पियुजी दुकाने चाल्या उठ गोरी कम्मर पे बैठी। –चाबी

१५. टांची दे सोनो घडयो, घड़्यो रे अजब सुनार।
निरख्यो पण देख्यौ नई, रे गयो धरती माय।। –मांडना

१६. डाबे कारे नागनो, नम नम झोला खाय। –नथ (आभूषण)

१७. डाकण–भूत लड़ी पड्या चुड़ेलन छुड़ावा जाय। ताला-चाबी

१८. तुरत फुरत की डावड़ीजी तुरत इ रई गयो पेट। –रोटी

१९. तीन पगा रो घोड़ल्यो, गयो जी सरवर पाल।
सरवर से पाछे फिरल्यो, फेर धणी के जाय।। –सिंघाड़ा

२०. दूधां भरयो बाटको, दियो जमई के हाथ।
भावे तो पी लीजो, नी तो पाछो दो पोंचारा।। –कन्या

२१ धोली दाड़ी को डोकरो।
बस्ती पे करवट दे सजनिया। –गांकर (बाटी)

२२. धोला कुआ को धोलो पानी, धोली भंवर की सेंजाजी।
सिल्ला उप्पर धरी सिल्लबट्टी हम धोला हो जावांजी।। –साबुन

२३. धोली दाड़ी से डोकरो, उ हाटे हाट बिकाय ।
बूजो बेवई म्हारी पारसी, नी तो हारो घर की नार ।।
–कांदो (प्याज)

२४. नद्दी जइने पानी लाना, बेतो नी लाना, बन्यो नी लाना । –ग्रोस

२५; पत्थर पतासा लागा म्हारा व्याइजी,
हमने तोड्या तमने चाख्या म्हारा व्याइजी,
केल में खरबूजा लागा म्हारा व्याइजी,
प्याली को ग्ररथ बताव म्हारा व्याइजी । –तारे

२६. फूलां भरियो टोकरो, छांटो दियो कुम्लाय ।
बूजो जमई म्हारी पारसी, तुरत करो रे विचार ।। –बताशे

२७. बाप बिचे, बेटा बिचे, दोरा बीच एक नार । –छनरी

२८. बिना रे पगा का घोडल्यो, ढाल्यो ढोल बजाय ।
उचकावो उचके नइजी, सुरता करो बिचार ।। –माडना

२९. बिन सुई जी ने बिन तागो ।
पदमणी बुणे रूमाल हो साजनिया ।। –मकड़ी

३०. भैंस बियाणी पाड़ो पेट में, चाको गयो हाट बजार –शहद

३१. रे सरदारां उठ सिद करो, रंग बिगाडियो राड ।
ग्रावतड़ा दीखे नइ, जाताँ लागे बार ।। –नींद

३२. रंग्यो चंग्यो वो बेवड़ो, धरचो है तखत बजार । –चूड़ो (ग्राभूसरण)

३३. लाल मंजूजो पेलो बारणो, हिंगलू ढलाई हो देल,
केवो चतर म्हारी पारसी··········· –नथ

३४. लीली दराब की कांचली, पेरूं बार–तेवार ।
कसवा बांदू खेचमा, फुन्दा लाल गुलाल ।। –मेंहदी–रचना

३५. लीली दाख जंगल को मैवो, जिको बडो रे सवाद।
जीमण बेठ्या सक्कर मिठाई, गुठली बायर काढ़ो राज ।।
—बेर-पेंमदी

पीली	रायण		
लाल दाख	खजूरा		फल
काली दाख	करोदे		

३६. साजन जावो देसावरिया, लाजो हल्दी ने हीग।
एक बीज असो लावजो, जिकां माथे चारि सीग ।। —लोंग

३७. सरग सीताफल लागिया, म्हारा से तोड्या नी जाय। —तारे

३८. सोना सरखी मोरड़ी, जीरा सरखी आख।
चतर भरियो चूमल्यो, मूरख मसले आख ।। —भंवरी (बर्रै)

अगेय पहेलियां—"केणी या बारतां"

मालवी की गेय पहेलिया-पारसी तो स्त्री-समाज तक ही सीमित है, किन्तु अगेय पहेलियां मालव के जन-साधारण में व्यापक रूप से प्रचलित है। नगर की सामान्य एवं मध्यमवर्गीय जनता के अतिरिक्त ग्रामीण जनता भी 'बुद्धि की परख' के इस खेल में विशेष रूचि प्रदर्शित करती रहती है। छोटे–छोटे बालक भी इस विनोदमयी क्रीड़ा में पीछे नहीं रहते। बारतां यां केणी को कहने का ढंग अगेय है, किन्तु पद्यबद्ध अथवा गद्यात्मक, दोनों प्रकार के रूपों को कहते समय अभिव्यक्ति को लयात्मक अवश्य बनाया जाता है। वैसे अधिकांश पहेलियां पद्यबद्ध ही है। इनमें तुक एवं लय आदि का भी ध्यान रखा जाता है, किन्तु कुछ केणिया गद्यात्मक रूप में भी प्रचलित हैं—

० 'एक मुल्ला के पेट मे दाड़ी'—आम का फल।

आम की गुठली पर तूंतड़ों (रेशों) को देखकर यह कल्पना की गई है। ग्रामीण जनता की बुद्धि भी कुशाग्र एवं कल्पनाशील है। किसी साधारण घटना या वस्तु-स्थिति को देखकर 'बारता' का निर्माण कर लिया जाता है।

किसी ग्रामीण महिला को घट्टी (चक्की) पीसते देख कर एक पहेली का निर्माण कर डाला:—

- आधी राते ऊंट अड़लाटा करे —घट्टी
- एक बैरा ने बैल को सींग पकड़्यो —घट्टी का हत्था

इसी तरह एक सामान्य किन्तु मनोरंजक बात है:—

- एक नार दो के लई बैठी —लंहगा।

मिया अमीर खुसरो को मालवी–ग्रामो मे पाकर आश्चर्य होने की कोई बात नही है। यहां की ग्रामीण जनता मे भी अकबर, बीरबल, मीरा, कबीर, सूर–तुलसी और यहां तक की बिहारी के रस–शृंगार से भरे दोहो का मालवीकरण हो गया है। जनता ने उसे लोक–साहित्य की वस्तु बनाकर मौखिक परम्परा में जीवित रखा है।

ग्रामीण स्त्री की पोशाक घाघरा (लहंगा) और कांचली (चोली) पर दो पहेलिया है—

- एक बैरा खड़ में कूदी —घाघरो
- एक बैरा ने दर मे हाथ लाख्यो —काचली

जम्फर, पोलके, चोलो या आधुनिक ब्लाउज आदि स्तन-वस्त्र तो नगर की स्त्रियों के लिये ही शोभनीय है। मालवा की ग्रामीण महिलाएं आज भी नगर के प्रभाव से दूर है और कालिदास की शकुन्तला के सदृश, कुछ हेर-फेर के साथ कुच–पट्टिका (कांचली) का ही उपयोग करती है।

इन पहेलियों में सामान्य जीवन की प्रमुख घटनाओं और वस्तुओं का चित्रण रहता है। किन्तु वस्तु–विन्यास की दृष्टि से 'मालवी बारतां' या 'केणी' को निम्न-लिखित भागों में रख सकते हैः—

(१) प्रकृति-सम्बन्धी
(२) कृषि-आयुध-सम्बन्धी
(३) खेत-खलिहान-सम्बन्धी
(४) धान्य-फल एवं भोज्य-पदार्थ सम्बन्धी
(५) घरेलू वस्तुओं से सम्बन्धित
(६) युग की नवीन वस्तुओं से सम्बन्धित

कोई भी नवीन वस्तु ग्रामीण जीवन के सम्पर्क में आई नही कि पहेली-निर्माण का आधार बन जाती है। रेलगाड़ी, हवाई-जहाज, पोस्ट-कार्ड, पेन, घड़ी–चेन, साबुन आदि न जाने कितनी ही वस्तुओ पर पहेलियाँ रची गई है। पोस्टकार्ड पर कितनी सुन्दर पहेली है—

- काली कुत्ती कबरे कान, कां जाय कुत्ती गामे गाम।

काली स्याही से लिखे हुए श्वेत पत्र के लिये कबरे कानवाली कुतिया उस पोस्टकार्ड या चिठ्ठी की सूचक है, जो गांव-गांव जाती है।
इसी तरह रेलगाड़ी और हवाई जहाज पर रची पहेलियां भी उल्लेखनी है–

- बन में गया लकड़ी काटी, खेंचखांच के सुतार घरे पटकी
  नो सौ केलू, नो सौ लाट, चरखा बनेगा तीन सौ साठ –रेलगाड़ी
- गनन् गनन् रेट्यों गन्नावे,
  तीन पगां को घोड़लो अकासे जावे –चीलगाड़ी (वायुयान)

पहेली–निर्माता की कल्पना किस दिशा में मोड़ लेगी, इसका निर्धारण करना सहज नही है। उनकी रूचि, प्रवृत्ति, रहन-सहन, सामान्य विचार

स्तर आदि की जानकारी के बिना इस प्रकार की पहेलियों का उत्तर देना कठिन है। इन पहेलियों के बूझने के लिये ग्रामीण जीवन के वातावरण से परिचित होने के साथ ही उनके अन्तरंग एवं बहिरंग में पैठना आवश्यक है। कृषक जीवन का गहन अध्ययन भी आवश्यक है अन्यथा पहेली रचना का आधार निरर्थक और बेसिर पैर का ही प्रतीत होगा।

एक अटपटी किन्तु सार्थक कल्पना देखिए—

० काली कुती अगभग, तीन माथा दस पग।

एक विचित्र बात है। कुनिया काली है, उसके तीन मस्तक और और दस पैर है। ग्रामीण जीवन से अनजान व्यक्ति इसका उत्तर नही दे सकता। मोट [मालवी में चडस] भारतीय कृषको के लिये एक आवश्यक वस्तु है। इसी के द्वारा खेतो की सिचाई होती है। मालवा में तो चड़स ही सिचाई का एक मात्र साधन है। इस प्रदेश में 'रहट' अथवा घटयंत्र-चक्र का उपयोग नही होता। कुए अथवा बावड़ी [बापी] से चड़स द्वारा जल निकालने के लिय एक जोड़ी अर्थात् दो बैल एवं एक श्रमिक की आवश्यकता पड़ती है। उक्त पहेली का उत्तर इस भांती और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

तीन माथा--दो बैल के मस्तक, और एक चड़स हाँकने वाले श्रमिक का मस्तक।

दस पग--आठ पैर दो बैलों के, दो पैर चड़स हाकने वाले श्रमिक के

काली कुत्ती--चड़स। वर्ण-साम्य के कारण चड़स की बनी हुई मोट को काली कुत्ती कहा गया है।

इसी प्रकार चड़स के सम्बन्ध में उसकी 'चरड़-चू' की आवाज के कारण एक अन्य पहेली भी कहो जातो है।

'एक नार सासरिये जाय··· आती-जाती रोती जाय'

प्रस्तुत पहेली में सामाजिक जीवन का सुन्दर संकेत है। भोली-भाली नव--वधू जब ससुराल जाती है, तब मायक के बिछड़ने एवं अज्ञात दिशा के जीवन में प्रवेश करने की आशंका से अश्रु-पूरित रुदन का फूट पड़ना स्वाभाविक ही है।

इन पहेलियो में सामान्य बुद्धिपरीक्षा के साथ ही मनोरंजन के तत्व भी विद्यमान है। कौतूहलमयी बाते, आश्चर्यजनक एवं अनहोनी सूझ को देखकर परिष्कृत एवं व्यापक बुद्धि वाले व्यक्ति को भी इन पहेलियो को "बूझने" के लिये कुछ सोचना पडता है। ग्रामीण व्यक्तियों के मस्तिष्क को कसरत के कुछ उदाहरण उल्लेखनीय है:--

सरवर पाल सुआवणा, ऊबा नागफणा
गोरी थारा साथ मे, मुआ चार जणा

सरोवर की सुन्दर पाल है। नागफणी [थूहर] खड़ी हुई है। गौरी [सुन्दरी] तेरे साथ में चार व्यक्तियो को मरना पड़ता है।

गौरी यहां पर नागर बेल को कहा गया है, जो कि सुन्दर सरोवर की पाल पर शोभायमान है। नागरबेल [नाग वल्लरी] का पान मुखरंजन के लिये मालवे में एक दिव्य वस्तु मानी गई है। आतिथ्य एवं आराध्यदेव के अर्चन मे नागवल्लरी के पान समर्पित करने का मालवी लोकगाथा एवं लोकगीतों में अनेक स्थलो पर उल्लेख किया गया है। पान के साथ चार वस्तुओं की समाप्त किये बिना उसमें अधर की लालिमा को निखारने की क्षमता ही उत्पन्न नही हो सकती। ये चार वस्तुएं हैं--कत्था, चूना, लोंग और सुपारी।

कत्थे और चूने के सन्दर्भ में एक सुन्दर पहेली याद आगई:--

कत्था चूना नागर पान, नरनारी के बावीस कान

प्रथम पंक्ति तो शायद तुक मिलाने के लिये ही कही गई है, उसके अर्थ की कोई विशेष संगति नही लगती। दूसरी पंक्ति मे व्यक्त "नरनारी के बाइस कान" का उत्तर ही वाञ्छनीय है।

राम-कथा से तो प्रत्येक भारतीय परिचित है। रावण को दशानन "दससीस" कहा गया है। दस मस्तक वाले व्यक्ति के बीस कान होंगे ही। यह तो हुआ नर, और उसकी नारी मन्दोदरी के दो कान। इस प्रकार नर और नारी अर्थात् रावण, मन्दोदरी के बाइस कान हुए।

जीवन मे गहन अनुभव से युक्त, प्रकृति को सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति की सूझ-बूझ के साथ ही शब्दो की मार्मिकता पर वाग्विलास का एक सुन्दर उदाहरण है:—

"रूप रंग ने रस भरी, किरपा करजो मोय,
ऐसी नारी भेज जो, भोर भये नर होय........"   —मोगरे की कली

मोगरे के पुष्प की माला के ग्रन्थन मे उज्जैन के मालियो ने विशेष प्रवीणता प्राप्त की है। कई मालियो का तो यह परम्परा-प्राप्त धन्धा ही है, और मालाग्रन्थन की कला को चिर-स्थायी एवं स्वयं के परिवार तक की गौरवमयी वस्तु बनाने के लिये उनकी एक बात विशेष उल्लेखनीय है। माली परिवार मे पुत्री को मालाग्रन्थन की कला मे प्रवीण नही होने दिया जाता क्योंकि उसके ससुराल चले जाने पर उनकी वह कला भी अन्यत्र चली जावेगी। इसी आशंका के कारण वे पुत्री की अपेक्षा वधू को माला गूंथने की शिक्षा देते है। उपर्युक्त पहेली मैंने उज्जैन के एक मालाकार से सुनी थी। इसमें उसके जीवन की एक मार्मिक अनुभूति छिपी हुई है।

मोगरे की कलिका का रूप, रंग और सुवास किन रसिकों को मस्त नही बनाता ? रात्रि को वह नारी है अर्थात् कली ही रहती है और प्रातः नर-रूप धारण कर लेती है अर्थात् पूर्ण विकसित पुष्प के रूप मे परिणत हो जाती है।

इसी प्रकार के कुछ अनुभवशील व्यक्तियो की बुद्धि के खेल पहेली के रूप में बड़े ही मनोरंजक बन गये है:—

"आठ पांव नौ नेत्र, तीन सीग, दो पूंछ।
याको अरथ बताइये, वाके मुंडे मूंछ। [नन्दी पर बैठे शिव-पार्वती]

एक स्त्री पानी लेने के लिये "बेवड़ा" लेकर कुए पर गई। कुआ गांव से कुछ दूर पर था। उस समय भीषण वर्षा प्रारम्भ हो गई। कई स्त्रिया, जो पानी भरने के लिये गई थी, भीग गई। उन्होने दौड़ कर निकटस्थ मन्दिर में आश्रय ग्रहण करने की चेष्टा भी की किन्तु वे भीगने से बच न सकी। इन स्त्रियो ने जब देखा कि यह स्त्री भी पानी लेने गई थी और हम सब भी गई थी, किन्तु इसके सब वस्त्र तो सूखे ही है। सब को आश्चर्य हुआ। उन्होने कौतूहलवश पूछाः—

तू बाहर गई सो ऊबरी, हूं भीजी मन्दर माय।
मैं तो सो पूछूं सखि, कोरी किम बिध आय ?

तब उस स्त्री ने उत्तर दिया—

सारंग [1] लेने मैं गई सारंग [2] पोच्यो आय।
उठा चीर सारंग [3] धर्यो सारंग रही समाय।

सामान्य-सी बात थी, जब वह पानी लेने गई तो पानी बरसना शुरू हो गया। उसने चतुराई की। अपने सब वस्त्र उतार कर घड़े के अन्दर

---

१. पानी २. बादल ३. घड़ा।

रख दिये और उसको उलटा कर दिया। वह स्वयं पानी में भीगती रही। वर्षा थमने पर सूखे वस्त्र पहिनकर पानी का बेवड़ा भर बहां से चली आई।

मालव के अनेक गांवों में हमें ऐसी पहेलियां भी सुनने को मिली, जिन पर नगर की भाषा का प्रभाव है। हो सकता है कि ये पहेलियां भारत की अन्य जनपदीय भाषाओ में भी प्रचलित हों। किन्तु मालवा के ग्रामों मे इनका अधिक प्रचार है। यह भी सम्भव है कि नगर के संसर्ग से कुछ पढे-लिखे ग्रामीणों ने अपनी भाषा में हिन्दी के शुद्ध रूप का प्रयोग करने की चेष्टा की हो। परम्परा से चली आने वाली पहेलियों को मालव ग्रामीणो ने आधुनिक भाषा के आवरण मे शिष्ट समुदाय के मनोरंजन के लिये एक प्रेरक प्रयास अवश्य किया है।

चांद सरीको उजलो, रहे मीरी के पास।
बनिया पुडकी बाध दे, लेन पठाई सास।

चन्द्र के समान उज्ज्वल है, मीरी के पास रहता, है बस इतना ही संकेत पर्याप्त है। पहेली का उत्तर होगा --कपूर

कूट पदों की योजना में भी मालवी ग्रामीण पीछे नही है:—

अजिया सुत को सबद ले, गज को पाछलो अंक।
सो तरकारी लावजो, चतर नार के कन्त --मैथी

चतुर नारी का स्वामी बाजार मे शाक-तरकारी लेने निकला है। गृहिणी मैथी की तरकारी मंगाना चाहती है।

बकरी का शब्द 'मै-मै' होता ही है और गज अर्थात् हाथी का अन्तिम अक्षर 'थो' है।

मक्खियों की असंख्य उत्पत्ति होने के कारण उस पर एक सुन्दर पहेली है—

आई नारी, आते ही लड़की जाई।
बड़ी फजर तड़के, उस लड़की के हुए लड़के।

बालिकाओं के लिये गुड़िया और गुड्डे का खेल एक आकर्षण का कारण होता है। क्या नगर की और क्या ग्राम की, सभी बालिकाओं का बाल्य-जीवन इसी खेल में बीतता है और खेल ही खेल में उनको अपने भावी जीवन की तैय्यारी की शिक्षा भी मिल जाती है। गुड़िया और गुड्डे का विवाह तो इस खेल का रोचक प्रसंग है। इसी पर एक पहेली उल्लेखनीय है—

बालक है बिन जीव, बांझ उनकी महतारी।
पिता जो उनके नाय, कहा गत कौन बिचारी।।
व्याव जो उनके होय, सात सहेली मंगल गावे।
गोव उन्ही को नाय, बिना न्यौते घर आवे।। (गुडा-गुड़िया)

भगवान शिव के स्वरूप पर एक पहेली है:—

अद्दर धरी तिरसूल, अद्दर सिर चक्र चलन्ता।
अद्दर धरी रूण्डमाल, अद्दर सिर गंग बहन्ता।।
बिक्रमान असवार, सिंगीनाद पुरन्ता।
नही गोरख नही सन्त, नही भरतरी कहे सज्जन।
बताओ तो फिर ये कौन..........नर।

उक्त वर्णन पढ़ने से ऐसा आभास होता है कि भारतीय परम्परा में प्रचलित शिव का वर्णन ही तो है। त्रिशूल, सिंगीनाद, मस्तक पर गंगा, गले में मुण्डमाल आदि सभी शिव के रौद्र रूप के परिचायक है, किन्तु श्लेषमयी उक्ति में रहंट (घटयंत्र-चक्र) का पूरा विवरण पाकर हमें ग्रामीणों की साहित्यिक प्रवृत्ति की प्रशंसा करनी ही पड़ती है।

चड़स (मोट), रहंट आदि जल-सिंचन के लिये ऐसे प्रमुख साधन हैं जिनका कृषि जीवन के लिये विशेष महत्व रहा है और आज भी । नहर का पानी तो मालवा के क्षेत्र में दुर्लभ ही है। कुए अथवा बावड़ी

पर रहंट लगाया जाता है, थाले पर त्रिशूल जैसा ही दण्डाधार होता है। रहंट को चलाने के लिये चक्र, पानी भरने के लिये छोटी मटकियाँ मुण्डमाल जैसी दिखाई देती है। चक्र चलाने के लिये बैलों की आवश्यकता तो होती ही है और जल-पात्रों से गंगा की धारा भी बहती है। रहट चलते समय उससे निकलने वाली 'चरड-चू' की ध्वनि मानों सिंगीनाद है।

ग्राम के किसी सम्पन्न परिवार की बालिका को यदि 'गोबर-चोट्टी' कह दिया तो वह एक चिढ जाती है, अप्रसन्न हो जाती है। गोबर बीनना और उसके लिये खेत-खलिहानों मे मारे-मारे फिरना तो निम्न जाति की अभागिन लडकियो का काम है। इसलिये गावों मे 'गोबर-चोट्टी' कह कर किसी बालिका को चिढाने एवं खिजाने मे बडा आनन्द आता है। गाव के जीवन मे तो गोबर बीनना या उठाना बड़ा आवश्यक काम है। हमारे लिये गोबर एक अमूल्य सम्पत्ति है, चाहे गाव के लोग उसका महत्व न समझ कर ईंधन का काम लिया करें ! किन्तु मनचले रसिको के लिये मलोना, अस्त-व्यस्त-वसना, गोबर बीनने वाली भी कम आकर्षक नही है। एक ग्रामीण ने उसी पर एक पहेली बना डाली——

नगर में से निकली नार, पुरुस लिया बगल मे मार।
जवान छोड़ के बूढ़ा ले, इसका अरथ कोई बिरला दे।

ग्राम की भाषा पर नगर का प्रभाव तो स्पष्टतः लक्षित है। फिर भी अर्थ तो कोई बिरला व्यक्ति ही दे सकता है। नगर मे से निकलती हुई की बगल में पुरुष दबा हुआ है। वह चलती जाती है और युवाओं को छोड़ कर बूढ़ो को····

गांवों में बसने वाली कोई अभागिन स्त्री गांव की गली-गली में घूम कर खेतों के रास्ते पर चल देती है। उसकी बगल में एक बड़ा टोपला (डलिया) है वह गोबर उठाने के लिये निकलती है किन्तु वर्षा के

दिन नही है, क्योंकि इन दिनों में कोई भी ग्रामीण महिला गोबर बीनने नहीं जाती। उक्त स्त्री को गोबर तो उठाकर लेना है किन्तु वह गीले गोबर को उठाना नहीं चाहती। वह रास्ते में पड़े गीले गोबर को छोड़ कर सूखा गोबर उठाती है। खेतों में पड़े हुए गोबर को, जो धूप में सूख जाता है, मालवी में 'ग्रालण्या छाणा' भी कहते है। स्त्री ग्रालण्या छाणा उठा कर ग्रपनी टोकरी में रख लेती है। ये सूखे हुए उपले भोजन पकाते समय ईंधन का काम देते हैं। ग्रब इस पहेली का उत्तर स्पष्ट हो जाता है–

–ग्रालण्या छाणा बीनने वाली ग्रौरत

कृषक जीवन की सामान्य ग्रनुभूति पर ग्राधारित कुछ पहेलियाँ भी उल्लेखनीय है। प्रत्येक किसान के यहाँ बिस्तर ग्रादि ग्रोढ़ने-बिछाने का सामान रखने के लिये बांस या लकड़ी की डण्डे की ग्रलगणी होती है। वह रात को खाली हो जाती है क्योकि बिस्तर ग्रादि ग्रोढ़ने-बिछाने के लिये काम में ले लिये जाते है ग्रौर दिन में ग्रलगणी पर रख दिये जाते है। इसी पर एक पहेली है—

दने भरन्यो ग्रने राते खाली=ग्रलगणी या गोदड़मच्ची।

खुरपी के लिये एक केणी है:–

० नानी सी नानबई डबरा सो पेट।
का जाय नानबाई गूँदियारा खेत ?

इसी तरह टपकते हुए ग्राम के रस को देख कर की गई कल्पना है:––

० हील-हील होगड़ी, ग्रकास माथे खोगड़ी,
ऊंका मुंडे पड़े लाग (लार), ऊंका पेट मे पड्या जमाल।

"जमाल" देव से मान्यता-प्राप्त शिशु की केशराशि को कहते हैं। यहां पके ग्राम के ग्रन्दर के रेशे के लिये उक्त संकेत दिया गया है। सारस पक्षी के वर्ण-सौन्दर्य को लेकर रची गई पहेली है—

० उपर से उतरिया छन्ना मन्ना, लाल टोपी धोला अङ्गा।

—सारस युग्म

ग्रामीण, समझदार और शिक्षितों के बुद्धि वैभव रखने वाली कुछ मनोरंजक बातें भी आकर्षण की वस्तु है।

'एक लुगाई के बारा बोबा' (एक स्त्री के बारह स्तन)

सुअरनी (शूकरी)

इससे गांव के लोगों की सूक्ष्म दृष्टि अथवा सामान्य ज्ञान का अच्छा परिचय मिल जाता है।

"आठ अंठिगण बारा–बैगण, चार–चक्कू दो तोर्याँ'

पहेली के साथ ही विभिन्न पशु-मादाओ के स्तनो को दी गई उपमाएं कितनी सुन्दर हैं। कुत्ती के आठ बोबे होते है, अंगुली की 'पैरी' के समान। शूकरी के बारह बोबे होते है, बैंगन के समान। गाय के चार बोबे होते हैं, चाकू के समान और बकरी के दो स्तन (थन) होते है, तुरई के समान।

उपर कुण्डो नीचे कुण्डो, बीच में नाचे बरगुण्डो।

नारियल मे उसके गोले के बजने की आवाज के कारण यह कल्पना की गई जान पड़ती है।

तलवार के लिये पहेली है:—

काली थी कलचूड़ी थी।
काला बन में रेती थी,
लाल पानी पीती थी।

लोहे का वर्ण काला ही माना गया है और इसी कारण तलवार की मूठ [चूड़ी] को भी काला कहा गया है। तलवार के रहने की जगह काला

बन अर्थात् काला म्यान है। लाल पानो, रक्त तो तलवार जैसे शस्त्र का स्वाभाविक पान ही है।

तलवार के साथ ही बन्दूक की पहेली भी उल्लेखनीय है।

नानी सी डावड़ो, फूलाबाई नाम।
चढ़ी गई डूंगरी। मारी लई गांम॥ —बन्दूक

जाजो सहेलियाँ बाग में, लाजो हीरा-हीग।
एक फल ऐसा लावजो, ऊंका माथे चारि सीग। —लोग

तोड़े तो तोडाय नी, छबल्यो भराय नी —तारे

यदि कोई अज्ञ बालिका तारो को फूल समझ कर तोड़ने का प्रयास भी करे तो उनको तोड़ा नही जा सकता और उसकी डलिया (छबल्यो) खाली ही रह जाती है। वह कभी भर ही नही सकती।
लवंग के सम्बन्ध में एक और पहेली है—

भोपाल से आयो भोपो, चार कान ने एक टोपो।

लोंग के सम्बन्ध में कितनी सूक्ष्म जानकारी है और फिर उसको भोपों की टोपी की उपमा भी बड़ी उपयुक्त है।

एक तड़के तो बीस दौड़े —आम

यदि आम्रवृक्ष मे एक भी आम टपकता है तो उसको लेने के लिये बीसो ग्रामीण बालक दौड़ पड़ते हैं।

उपर तासा—नीचे तासा—बीच में लाल तमासा, —मसूर की दाल

उपर नीचे तो उसका छिलका होता है और बीच में 'लाल' वर्ण की दाल उसमें रहती है।
मूंग की तुलना मक्खियों से भी कर ड़ाली—

अन्दारा घर मे मूंग बिखर्‌या !

जमीन पर गिर कर फैली हुई तेल की बूंद को देखकर पैसे (तांबे का) को कल्पना सजग हो उठी—

'अन्दारा घर में तेल का टपका' ।　　　　　　　　—पैसा

किसी स्त्री को सुई-धागे से कपड़ा सीते देखकर एक पहेली घड़ ली गई—

इत्तो बड़ो मनी राम, उत्ती बडी पूंछ
वां जाय मनीराम, पकड़ो ऊंकी पूंछ　　　　　　—सुई-डोरा

यहा पर मनीराम तो बहुत ही छोटा है किन्तु उसकी पूंछ बहुत लम्बी है और देखते-देखते ही वह कपड़े के अन्दर प्रवेश करता और भागता इतराता रहता है ।

खसखस, अफीम के डोड़े पर एक पहेली है:—

कुआ पछाडी जिनावड़ी, वा नी बोले—ऊंका अण्डा बोले..............

दीपक पर एक सुन्दर कल्पना है । जब तक दीपक रूपी सरोवर मे स्नेह रूपी तेल रहता है, हरिण रूपी प्रकाश वहाँ पर रहता है और तेल समाप्त होते ही प्रकाश हरिण के समान भाग जाता है—

"तलाब भर्‌या था, हिरण खड़या था ।
तलाब सूखी गया, हिरण भागी ग्या" ।।

कभी-कभी "बारतां, अथवा पहेली का अर्थ पूछते समय मनोविनोद भरी चुटकियां भी ली जाती है । जो व्यक्ति उनका उत्तर नही दे पाता उसको मूरख, गंवार या भाटे का टोल अर्थात् "निपटमूर्ख" कहने में भी कोई नही चूकता । इसके दो उदाहरण है:—

"पान सरका पातला चांद सरका गोल ।
जो म्हारी बारतां नी बूजे, उ भाटा में को टोल ।।"　　　　—पापड़

पापड़ चन्द्रमा के समान गोलाकार होता है और पत्ते के समान पतला भी होता है किन्तु उसका उत्तर न देने वालो को "भाटे में का टोल" निपट गंवार कहा है।

"पांच पीपली, पदम तलई....
हमारी केणी नी बूझे, उको बाप बलाई।" पांचों अंगुली और हथेली।

पांचों अंगुलियो से घिरी हुई पद्म कमल के समान सुकोमल और ललाई लिये हुए हथेली है, यह तो उचित है किन्तु उत्तर न देने वाले व्यक्ति के बाप को एकदम बलाई कह देना कोई कम ढीठता की बात नही है। बलाई गांव की सीमारेखा में सबसे निम्न "कमीन" जाति का आदमी होता है। वह अस्पृश्य, दीनहीन और सबकी गुलामी और जी-हजुरी करने के लिए उपयुक्त पात्र समझा जाता है। संभ्रान्तो की जूठन खाना उसके भाग्य में बदा है। उसे फटे-पुराने वस्त्र पहिन कर पंचों की "जाजम" से दूर जूतों में ही बैठना पड़ता है। बेचारा बलाई अर्थात् कमीन जात का जो ठहरा। ऐसी है प्रतिष्ठा एक बलाई की !

यदि किसी को बलाई या उसके बाप को बलाई कह दिया जाय तो लोग इसे गाली समझते है और इसको एक भयंकर अपमान एवं अप्रतिष्ठा मानते हैं।

किन्तु हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद में कभी-कभी बुद्धू बन जाने अथवा पहेलियों के उत्तर न देने पर इस प्रकार के व्यंग्य-बाणो को लोग सहन भी कर जाते है अथवा विवश होकर हंसी में टाल देना पड़ता है।

मालवी की कुछ पहेलियां (बारतां)

१. अंधारा घर में ऊंट अड़लाय —घट्टी
२. अटक चली, मटक चली, पेर चली झेयां

ऐसी खसम की लाड़ली चढ़ चली कैयां —चाबी
३. ऊंडो कुम्रो किलकार मारे —कांसठ [घंटी]
४. एक फूल गुलाब को न राजा को, न माली के बाप को —चन्द्रमा
५. एक म्हारो मामो, हजार म्हारी मामी
ऐसो म्हारो मामो सगली निखई —कुम्रा
६. एक बाप, दो मां, चार बैल, चौसठ भैय्या —रुपया
७. एक लुगाई हाट जाय, बाजार जाय
छः छोरा-छोरी रुवाड़ती जाय —बिछिया
८. एक ठण्डा ने एक ऊना —चाद--सूरज
९. कालो खेत कड़ब को भारो, ऐंचो डोरा चलके तारो —तलवार
१०. चार खूंट चौदह नाड़ा, उसपे भूलें दो बंजारा —चांद--सूरज
११. चार चोर चोरी करबा गया, लाया धीगड़ गाय
दूध की न पूत की, ब्यावै आखी रात —महुवा का वृक्ष
१२. छापग छापरो, माथो चांदरो —मक्खी
१३. छोटी सी गाय, सौ पूला खाय —दराती
१४. छोटो सो छोरो थूल मथूल, काधे मोतो माथे फूल —मुर्गा
१५. छोटो सो क्यारो, सबके प्यारो —रुपया
१६. जगमग भूलो रतन कुंडाल
जो म्हारी बारतां नी बूझे ऊको सुसरो चंडाल —सूरज
१७. धोलो खेत कालो बीज,
बोवन वालो गावो गीत —कागज, स्याही, लेखक
१८. दो अंजड़ किवाड़, दो बजड़ किवाड़, नो नाक लड़े, दो दिवा बलें,
राजा की कंवरी न्याव करे --मुख, दांत, नाक, आंख और जीभ
१९. नद्दी का धड़धड़ चल बकरा, नद्दी सूखी तो मर बकरा —मछली
२०. नानी सी गाय घुर घुर जाय

देख रे भई म्हारा गऊ नी खाय —अन्धेरा

२१. नानी सी होली डमरू सो पेट
का जाय होला ? दक्खन का देस —खुरपी

२२. नो पाव की नारंगी, धरती मिलती जाय
राजा से पूछे रानी कुण जानवर जाय —गिंचोरी

२३. पाच पीपली पदम तलई
जो म्हारी बारतां नी बूझे ऊ गाम को बलई —हाथ

२४. पाच फूल पचरंगा, जीका फूल पड़े एक रंगा —पान

२५. पूरब से आया दो पुरबिया, केवो पूरब की बात
कई कूं म्हारी मां बेनड़ी पीठ पे लाग्या दो हाथ —कंडा [ऊपले]

२६. भरो नद्दी में पसेरी तिरे —घा

२७. भीत फोड़ भेरूजी निकल्या —धुंआ

२८. या गई····वा गई —नजर

२९. या से आई नटनी, वा से आयो नट
नटनी को पेट फूल्यो नट भटाभट —किवाड़ की जोड़ी

३०. रम रस रसियो परबत पे बसियो, लीली टोपी, लाल कबान
का जाय रसिया बड़ी दुकान —तोता

३१. लक्कड़ में फक्कड़ जिमे भीगा भारी
जो बारतां नी बूजे ऊंको बाप डूंगर गारी —खाट

३२. लाल गाय, लक्कड़ खाय, पानी पिये तो मरो जाय —आग

३३. लाल होरयो-लीली पूंछ —मिर्च

३४. लाल थारो घागरो ने हरी थारी तोई
बलै थारो घागरो म्हें सगला दन रोई —मिर्च

३५. मांय सांय सूतली, सरकाने वाला कौन
सीता चाली सासरे मनाने वाला कौन —नदी

निमाड़ी प्रदेश की पहेलियाँ

१. आलका खेत म, गलका का फूल
नौ सौ हत्ती करया कबूल, तो बी न टूटे गलका फूल। –तारे

२. आरकस बारकस, खडर क खूंटो,
गाय छ मारकणी दूध छ मीठो। —मुहाल [शहद का छत्ता]

३. अड़तीस डोगर, बत्तीस डोगर,
आयगी छेल छबीली, खोलेगी दरवाजा। –ताला–कूंची

४. अडतीस नाड़ा, बत्तीस नाडा,
बिगर बइल की जूत्या गाड़ा। –डोंगी [नाव]

५. एक जिनावर अस्सा ऊंकी पूंछ म लाल पइसा –मोर [मयूर]

६. एक रांड क तीन जन घिसड़ी। –चड़स

७. एक रांड क खिडी भरी आंतड़ा। –खाट

८. एक पोरऱ्यो नितरोज, बागड म माथो घुसाड़ज्।–डोल्या (Fork)

९. एक पोऱ्यो नितरोज, रखोड़ी म लोटज्। –बाटी

१०. एक पोऱ्यो चलतो जाय, ने पागड़ी बांधतो जाय। –रइस्यो[चरखा]

११. गाय चलती जाय, दूध पड़तो जाय। –घटी

१२. घर म सूती, आंगण मूती। –मोट

१३. चार चक्कर चलज् [पैर] दो मक्क चलज् [कान]
आगे नता चलज् [सूंड], पीछे गोप चलज् [पूंछ] –हाथी

१४. चार भाई चौरासी, फूलपड़े एक रासी। –भैंस के बोबे

१५. छाल्या म बीज, तम से बी नी गिणाय,
म्हार सी बी नी गिणाय। –तारे

१६. जा तो जा, पण म्होके दइने जा। –बारणू [दरवाजा]

१७. जा बे जा, बाजार जा, बिगर डीठं का लिंबू ला। –अण्डा

१८. जा बे जा बाजार जा, मेरी सिक्कल का आदमी ला। –दर्पण

१९. जू जाय पण ऊंक क्यों लाई जाय। —छावली [छाया]

२०. थारो बाप, ऊनो लगाव ने माय क वाटलो। —कूंक [तिलक]

२१. दुई बड़्ड़ी इंच म, म्हार डकार। —अपान वायु

२२. धवलो घोड़ो, न्युली पूंछ। —कांदो [प्याज]

२३. नव सौ चित्ता, नव सौ उगाड़ा —कवेलू [खपरेल]

२४. नानी सी खड़ी, रूम झूम करती मेहल चढ़ी —जुवार

२५. नानी सी बड्डी पे, दुन्नु मियां नाचे। —बाल काटने की मशीन

२६. नानी सी बाटकी चोखा भरी, त्हारा सी बी नी खवाय
म्हारा सी बी नी खवाय। —कीड़ा

२७. नानी सी खली, त्थारा सी बी नी कुपाय,
म्हारा सी बी नी कुपाय। —सांप [सर्प]

२८. नानी सी गड्ड म, बत्तीस लाड्डू। —मुंह

२९. निवलई गोटी हिन्दोल बठी लारे सगा, त्हारी बेटी —कैरी

३०. बांको तेको खडर, तेका पे बैठो ढोलो
जो नी तोड़े ऊंको बाप हरबोलो। —सिंगाड़ा या नगाड़ा

३१. बाटकी भऱ्या रूप्या, थारा सी बी नी गिणाय
म्हारा सी बी नी गिणाय। —तारे

३२. बाप फाड़ज न माय समटग्र। —लक्कड़

३३. बांको टीकी पावली, सुन्दर चली सासरे
मनाने वाला कुण। —नदी

३४. बांकी टीकी बाई ऊंका म काली कांई
जो हमारी वार्ता नी ताण, ऊंको बाप नाई। —इमली

३५. बांकी तेकी लिम्बोली, सड़क पाणी जाय।
जो नी हमारी वार्ता ताण, ऊंके हनुमान बावो खाय।
—नारदा (मोरी)

३६. बेल बठज ने रास चरज् —खरबूजे की बेलड़ी

३७. भर्या समुद्र म सूखो कंकर। —घाट [दलिया] में गांटा

३८. भौत दूर सी आयो मिजमान, एक माथा ने चार कान। —लोंग

३९. मसरू की खेली म हर्‌ह्य का बीज। —मिरच

४०. मांग्यो बेल खोड्यो जाय नो, कपास ऐच्यो जाय नी। —तारे

४१. रतन तलई, पांच पलई
जो नी तोड़े ऊको बाप बलई —हथेली

४२. राते रीती दिनां भरी। —मांची

४३. वा गई या आई। —निगाह

४४, सब लोग भागी गया घर म भोंगली रांड क कोडी गया।
—बायरी[झाड़ू] कोठी [मिट्‌टी की]

४५. सब लोग भागी गया, ऊवला मोती चोटई गया। —सेमुल [श्लेष्मा]

४६. सिर पे घड़ा कमर पे हाथ, कैसे चढ़ूं जमना घाट।—सिदला [खजूर]

४७. हम आते थे तुम जाते थे, हमने हांसी की तुम रो क्यों आये।
—बिच्छू।

१० मालवी लोकगीतों में पशु-पक्षी

पशु और पक्षियों का मानव-जीवन के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। मनुष्य आदिम काल से ही पशु-पक्षियों से स्वयं के लिये सेवाएं लेता आ रहा है। उपयोगिता की दृष्टि से मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पशु-पक्षियों की एक विस्तृत सूची बनाई जा सकती है। स्थूल रूप से निम्न-लिखित वर्गीकरण विचारणीय है—

१. शिकार के पशु—सिंह, व्याघ्र, शूकर, रीछ, भालू, हरिण आदि। पक्षी—चिड़िया, सारस, बटेर, तीतर, कबूतर आदि।

२. शिकार में सहयोग देने वाले पशु-पक्षी—अश्व, श्वान, बाज आदि।

३. परिवहन के पशु—हाथी घोड़ा, बैल, ऊंट, कुत्ता, और गधा आदि।

४. दुधारू पशु—भेड़, गाय, भैंस, बकरी।

५. मांस के लिये उपयोगी पशु-पक्षी—मुर्गा, बकरा आदि।

६. संवाद-दाता पक्षी—हंस, कुंरज, कपोत एवं शुक।

७. मधुरभाषी पक्षी—शुक, सारिका, कोयल, पपीहा, मयूर आदि।

८. शरीराच्छादन के लिये सामग्री प्रदान करने वाले पशु-पक्षी—भेड़, बकरी, परवाली अनेक चिड़ियाँ।

९. बलि पशु—भैसा, बकरा, मुर्गा, आदि।

१०. विषैले एवं प्राणघाती अन्य जन्तु—सर्प, बिच्छु।

मालवी-लोकगीतों में उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर अनेक पशु-

पक्षियों का समावेश पाते है। भारतीय वातावरण के अनुकूल पशु-पक्षियों के प्रति जन-सामान्य का एक विशिष्ट ममत्व रहा है किन्तु इनमें बैल एवं अश्व को अधिक महत्व दिया गया है। स्त्री-पुरुषों के लोकगीतों में अश्व और बैल को समान रूप मे स्थान मिला है। घुमन्तु एवं आवस-विहीन समाज के मनोरंजन के दो ही साधन थे—

१ युद्ध २ आखेट

इन दोनो में अश्व का बड़ा महत्व रहा है। आखेट तो सभ्यता के विकास के साथ ही सामन्तो की वस्तु बन गई और आज के जन-जीवन से उनका विशेष सम्बन्ध नही आता अतः लोकगीतो मे सिह-व्याघ्र आदि आखेट के पशुओ का उल्लेख अधिक प्राप्त नही होता। इस प्रकार हिंस्र-भावना के सन्दर्भ में पक्षियो का उल्लेख भी अप्राप्य है। अश्व का उल्लेख अनेक स्थलो पर आया है। अश्व प्राचीन काल से ही परिवहन का एक प्रमुख साधन है। युद्ध में अश्व एवं कृषि मे बैल, दोनो ही पशु बड़े महत्व के माने गये है। मालवी लोकगीतों मे इन दोनो की जननियो की वन्दना की गई है कि कलयुग मे इसने दो बडे जोधा [योद्धा] उत्पन्न किये।[1] युद्ध के लिये अश्व अधिक उपयोगी पशु है अतः वीर-पूजा मे सम्बन्धित गीतों में अश्वारोहण का अनेक बार उल्लेख हुआ है। रामदेवजी के गीत प्रमाण में प्रस्तुत किये जा सकने है।[2] युद्ध के अतिरिक्त युग की सामान्य

---

१. धरती पर दो जोधा बड़ा, एक है सूर्या नो जायो
दूजो है घोड़ी नो जायो,
एक तो पाले संसार, दूजो जाय रण में असवार....
—हीड़ का प्रारम्भिक अंश।

२. [क] धोली घोड़ी ने कुंअर रामदेव चढ़िया,
मालवीगीत संग्रह, भाग २, गीत क्रमांक ८८। ❀

स्थिति में भी अश्व का बड़ा उपयोग होता है। अश्व तेजी से चलने वाला पशु है। किसी निश्चित स्थान पर शीघ्र एवं यथासमय पहुंचने के लिये अश्व का ही उपयोग किया जाता है। सवारी के लिये घोड़ी को महत्व दिया जाता है। रंग के अनुसार घोड़ी के 'लीलर्डी', 'धोली' आदि नामकरण भी किये है। सावन के महिने में बहिन को उसके ससुराल से लाने के लिये भाई को 'लीलड़ी' पर प्रस्थान करने के लिये प्रेरित किया गया है।[1] विवाह जैसे मांगलिक अवसरो पर भी 'वरयात्रा' आदि के लिये अश्व का होना आवश्यक है। घोड़े अथवा घोड़ी के बिना हिन्दुओ में विवाह होना संभव ही नही। वधू के घर के लिये प्रस्थान करने के पूर्व 'घुड़चढी' की आवश्यक रूढि सम्पन्न की जाती है। वर की माता घोड़ी का पूजन करती है। 'सेवरे' के गीतों मे घोडी के नाचने-कूदने एवं नगर में भ्रमण करने का विशद वर्णन किया गया है।[2] विवाह के अन्य गीतो में भी अश्व, परिवहन के पशु के रूप में ही उल्लेख हुआ है। वधू पति के घर की ओर प्रस्थान करने के लिये अश्व पर आरुढ़ होती है।[3] बिदाई के समय अश्व पर आरूढ़ हो प्रस्थान के लिये उद्यत वर को वधू कुछ क्षण रुकने के लिये आग्रह भी करती है।[4] कभी-कभी व्यक्ति-विशेष का अश्व

❀ [ख] लीले घोड़े जीन माँडी रामदे असवार— २।६४

[ग] धोले घोड़े असवार पीरजी, मुलक चढ्यो थो तँवरा को २।१००

१. आवो नी म्हारा बाला बीरा
लीलड़ी पलाणो जी ····मालवी लोक गीत [श्याम परमार] पृष्ठ २०

२. घोड़ी नाचत-कूदत नगर गई। गई रे बजाजी के हाट,
बछेरी लूम रई —घुड़चढ़ी के गीत की पंक्तियाँ।

३. कृष्णजी घुड़लो पलाणिया बई, रुकमण हुआ असवार —१।१७१

४. घड़ी एक घुड़लो थांबजे रे सायर बनड़ा– मालवी लोकगीत पृष्ठ ८७

होने के कारण उसका सम्मान भी होता है। प्रियतम का घोड़ा सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु बन जाता है। उसे सप्तरंगी लगाम भी लगाई जाती है। श्वेत अश्व के साथ सप्तरंगी लगाम की कल्पना बड़ी मनोरम है। बड़े एवं साहब लोगों के घोड़े को भी 'भाई-भाई' कहना पड़ता है।[1] एकाध गीत में अश्व की सुन्दरता का चित्र भी मिल जाता हैं।[2]

घोड़े के साथ हाथी का वर्णन भी किया गया है। अश्व तो सामान्य व्यक्ति को भी प्राप्त हो सकता है किन्तु हाथी की सवारी तो सम्पन्न लोग ही कर सकते है अतः वैभव एवं सम्पन्नता का प्रदर्शन करने के सन्दर्भ में ही हाथी का उल्लेख हुआ है। 'संजा' एवं विवाह के अन्तर्गत 'जंमाई' और 'बधावे' के गीतो मे वर की सम्पन्नता एवं ठाट-बाट का अस्तित्व 'हाथी की सवारी' से ही सूचित किया जाता है।[3]

यातायात के लिये ग्रामीण जीवन में बैल का भी महत्व है। कृषि-

१. घोडो हिस्यो रे बाँगड़ बढ़्ढ़े चढ़ी, धोलो घोड़ो सतरंगी लगाम
सीतलजी [नाम विशेष] की जेल् पूछे—'रे दादा कीको घोड़ो ?'
थारा यार को घोड़ो, सूबा साब को घोड़ा !
जागीरदार को घोड़ो, थानेदार को घोड़ो !
दाणा दऊँ रे घोडा, पानी पाऊँ रे घोड़ा !
चारो रे नीरू रे घोड़ा, थँई थँई रे घोड़ा। भाई-भाई रे घोड़ा
............१।१५४

२. धोलो घोड़ो मुख हांसनो रे, गबूर्यो-सो असवारजी
—२।१२४, पृष्ठ ८५

३. संजाबाई का सासरा से हाथी आया, घोड़ा आया,
पालकी आई, जाओ संजाबाई सासरे—मालवी लोकगीत, पृष्ठ ६७

कार्य एवं समाज की सम्पन्नता का भार 'हलधरो' के कन्धो पर ही है। इनके द्वारा खेती होती है और खेती से प्राप्त अन्न से उदर-पोषण हो जाने की स्थिति में धर्म की रक्षा भी होती है। वास्तव में गौमाता के ये 'जाये' अनमोल रतन है जो खेतो में 'चांस' खीचने के साथ 'धर्म की खेती' के लिये भी चांस खीचते हैं—

"धन धन ओ गउतरी माता, त्हने रतन उघाड्या दुनियां मांय।
त्हारा जाया मातेसरो हल चले, खेंचे धर्म की चांस..........."

—'ग्यारस' गीत-प्रबन्ध का प्रारम्भिक अंश

गाय की प्रशंसा के साथ उसके सुपुत्रों की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। केवल हल चलाने में ही उनका सहयोग नही मिलता किन्तु गाड़ी में भी उनको 'जोता' जाता है। विशेष अवसरों पर बैलो के सीग रंग कर उन्हें सजाया भी जाता है। बहिन के यहाँ किसी मांगलिक अवसर पर उपस्थित होने के लिये भाई सुन्दर-स्वस्थ बैलों की जोडी को गाड़ी मे जोतता है। गाड़ी को लेकर दौड़ते हुए बैलों का वर्णन 'मायरे' के एक गीत में प्राप्त होता है।[1] सुन्दर बैलो की जोडी के लिये मालवी से 'धौरी', धौरड़ी शब्दों का प्रयोग मिलता है। श्वेत-वर्ण के पुष्ट बैलों की जोड़ी बड़ी मनोरम होती है। बणजारों के लिये सामान ढोने का काम भी बैल ही करते आये है। यांत्रिक-युग में तो बणजारों की 'बालद' का काम मोटर-ट्रकों ने ले लिया है किन्तु सड़क एवं रेल-मार्ग से विहीन ग्रामीण क्षेत्र में 'बालद' के दर्शन हो जाते हैं। ग्राम की मालवी बहिन तो अपने भाई को एक बणजारे के रूप में ही देखती है और उसकी

---

१. गाड़ी तो रड़की रेत में रे बीरा, उड़ रई गगनां धूल।
चाल उतावल म्हारा धोरड़ी रे, म्हारी बेन्याबई जोवे बाट।
धोहरी का चमक्या सींगड़ा रे—मालवी लोकगीत, पृष्ठ ८३।

'बाल्द' को यथास्थान व्यवस्थित करने की चिन्ता में लगी रहती है कि वह अपने भाई एवं उसकी 'बाल्द' को कहाँ स्थान देगी ? [1]

भारवाही बैल के अतिरिक्त एक गीत मे 'साँडनी' (अथवा 'साँडड़ी') का वर्णन भी किया गया है। वैसे 'साँड' गाय का जाया होता है किन्तु साडनी का अर्थ तेज ऊंटनी से लिया जाता है । उससे भार-वहन का कार्य लिया जाता है। विवाह के मागन्लिक अवसर पर गणेश और 'सूरज बीरा' को 'साडड़ी' पर रुपये एवं आभूषण आदि लाने के लिये कहा गया है। [2] यह साडडी शब्द 'साड़' का स्त्री-वाचक न होते हुए शीघ्र-गामिनी ऊंटनी के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। 'ऊंट' को रेगिस्तान का जहाज भले ही कह दिया जावे किन्तु मध्य-युग मे बणजारो की बाल्द की तरह ऊंट भी यातायात एवं भारवहन का प्रमुख साधन रहा है और आज भी मालवा के अनेक ग्रामो मे शीघ्रगामी वाहन के रूप में उसका उपयोग होता है। मोटर आदि यांत्रिक वाहनो के प्रचलन के पूर्व मालवी ग्रामो के जागीरदार एवं जमीदारो के यहां 'साडनी' का रखनां सम्पन्नता का सूचक समझा जाता था। सांडनी का स्थान आजकल मोटर-कार ने ले लिया है।

कृषि-जीवन से सम्बन्धित पालतू पशुओ के प्रति चिर-साहचर्य के कारण आत्मीयता की भावना का जागृत होना स्वाभाविक ही है। दुधारू पशुओ की उपयोगिता से परिचित हो जाने के कारण लोक-मानस ने

---

१. बीरा म्हारा बणजारा
कठे ओ उतारां बीराजी की बाल्दा—मायरा के गीत की एक पंक्ति

२. अणी माँडे रिद् सिद् को चाव, पलाणो गजानन्दजी सांडड़ी
अणी माँडे गेणा रो चाव, पलाणो सूरज बीरा साँडड़ी —२।१५

अपनी वंश-समृद्धि के साथ पशु-वंश के वर्णन की कामना भी प्रकट की। 'रातजगा' के अन्तर्गत पूर्वजो के गीतो में पुत्र-जन्म के साथ ही गाय, भैंस एवं घोड़ी आदि मादा-पशुओं द्वारा बच्चे उत्पन्न करने का उल्लेख पशु-संवर्धन की उल्लास-भावना के रूप में व्यक्त हुआ है। [1] दुधारू पशुओं में गाय की अपेक्षा भैंस को अधिक महत्व दिया गया। अधिक दूध प्राप्त करने एवं आर्थिक लाभ की दृष्टि से लोग भैंस ही अधिक पालते है। गाय का महत्व तो 'बछड़े' एवं कृषि के लिये बैल उत्पन्न करने के कारण स्वीकार किया जाता हैं। अर्थ-लोभ में ग्रामीण-जन कभी-कभी अपनी परम्परागत धार्मिक भावना को तिलांजलि देकर, घर के आभूषण आदि बेच कर दूध के लिये भैंस लाते है। यदि उस भैंस ने 'पाड़ी' उत्पन्न न कर पाड़ा' पैदा किया तो वह निराशा का कारण बन जाता है। [2]

कुत्ता, बिल्ली एवं चूहे भी ऐसे प्राणी है जो मनुष्य के गृह-जीवन के साथ लगे हुए है। ये अवसर पाते ही खाने-पीने की वस्तुओ मे से बरबस अपना हिस्सा प्राप्त कर लेते है। कुत्ता घर मे खाने-पीने की वस्तुओ का उजाड़ कर देता है। कुत्ते के द्वारा स्पर्श की गई जूठी वस्तुएं अपवित्र मानी जाती है और उपयोगिता की दृष्टि से उनको ग्रहण करना सम्भव

---

१. पूर्वज आया म्हारी घोड्याँ के ठाने, घोड्याँ ने बछड़ा जाया ओ,
पूर्वज आया म्हारी भैस्याँ के ठाने, भैस्याँ भूरी पाड़ी जाई ओ,
पूर्वज आया म्हारी गार्यां के ठाने, काचा दूध उकलाया ओ,
पूर्वज आया म्हारी बउवाँ के ओवरे, बउवाँ ने बेटा जाया ओ,
पूर्वज म्हारे भला पदार्‍या —१।५६

२. हँसली बेच के भैस आणी
भैंस बियाणी पाड़ो रे, चलती को नाम गाड़ो रे —२।१०७

नहीं होता। कुत्ते का वर्णन 'उजाड़' पशु के रूप में प्राप्त होता है। [१] मिनकी (बिल्ली के लिये प्रयुक्त मालवी शब्द) तो म्याऊँ-म्याऊँ करने के कारण हास्य एवं मखौल की वस्तु बन गई। ब्याइन को मिनकी की उपमा दी गई। पुत्र-जन्म के गीतों में 'मिनकी' एक प्रकार का हास्य-गीत है। इसी तरह 'तालूड़ी' (गिलहरी) भी हास्य एवं गाल् गीत का एक विषय है। [२] चूहा जैसा तुच्छ प्राणी कृषि के लिये कितना ही हानिकारक बन जावे किन्तु गणेशजी का प्रिय-वाहन होने के कारण वह क्षम्य है। चुहिया कभी-कभी हरिनाम स्मरण करने की माला (सुमरणी) कतर डालती है किन्तु वह भी मनोरंजन एवं हास्य का बिषय बन जाती है। एक चुहिया ने भक्त चूहे की माला कतर डाली। उसकी भक्ति में विघ्न आ जाने के कारण वह क्रोधित हुआ और दोनो मे झगडा इतना बढ़ा कि पति-पत्नी के इस द्वन्द्व में आत्म-रक्षा के लिये चुहिया ने झाड़ू हाथ मे ले ली और चूहे ने प्रहार के लिये डण्डा ग्रहण कर लिया। इस लोक में 'चूहा-दम्पति' का झगड़ा न सुलझ सका। अन्त में स्वर्ग के धरमराज जी को यह झगडा निपटाना पड़ा। [२]

---

१. नाना की माँ तो पाणी गई, घर में कुतरा घेर गई
कुतरा ने कर्यो उजाड़ रे भई —१।१०

२. बड़ पर से उतरी तालूड़ी, म्हारी सूनी तो लागे सेज ए तालूड़ी
थारा नोरा कराँ ए म्हारी तालूड़ी —१।१५७

३. वारी ए उन्दरा वारी ! तेरी गजानन्द असवारी
ऊंदरा-ऊँदरी के राड़ हुई है, जुद्ध मच्यो अति भारी,
ऊँदरा ने लीदी लाकड़ी नै ऊँदरी ने लीदी बुआरी।
धरमरायजी न्याय कर्यो है, चुरमो बण्यो अति भारी
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छब, आखर ऊँदरी हारी —१।२४४

श्वापदों में अपनी वाणी का विशेष आकर्षण रखने वाले बेचारे माधव-नन्दन की ओर किसी वयस्क का ध्यान ही आकर्षित नहीं हो पाया ! हाँ, बालकों ने गर्दभ-दम्पत्ति की पीड़ा को पहिचानने की चेष्टा अवश्य की। अनावृष्टि के कारण जब पृथ्वी पर तृण-घास उग नही पाते तब भूख-प्यास की विकलता से गर्दभ एवं गर्दभी चीख-पुकार मचाते हैं। [1] गर्दभ के अतिरिक्त प्रकृति के प्रांगण मे विचरण करने वाला एक सुरम्य प्राणी और बच गया, जिसका स्थान मालवी लोकगीतो मे नही के बराबर है। सुन्दरियों के चंचल-नेत्रों से होड़ लेने वाले मृग-मृगी की ओर जन-मानस की उपेक्षा का कारण अनुभूति का अभाव ही हो सकता है। वैसे मालव से संलग्न वन-प्रान्तर मे मृगों के दर्शन यत्र-तत्र हो जाते है किन्तु गीतो में एक-दो स्थान पर ही उनका उल्लेख मिल पाता है। राजा भरथरी के कथानक से सम्बन्धित 'जोगिड़ा' के गीत मे शिकार के सन्दर्भ में मृग-मृगी का उल्लेख हुआ है। लोक-साहित्य की परम्परा के अनुसार ये पशु भी वाणी से युक्त है और दुःख-सुख, वियोग-संयोग एवं स्वधर्म-पालन की प्रेरणा से ओत-प्रोत है। मृग का सम्पूर्ण शरीर मानव के लिये कितना उपयोगी एवं परोपकार के लिये प्रेरक हो सकता है, इसकी माधुर्य से सिक्त अभिव्यक्ति जोगिड़ा के सर्व-प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय गीत में देखी जा सकती है। [2]

१. म्हारा बीरा की आल् सूखे, पाल् सूखे,
   गद्दो भूंकै, गद्दी भूंकैं भों-भों भट्ट—१।३

२. सींग दीज्यों गोरखनाथ ने, घर-घर अलख जगाय
   खाल देना सादु-सन्त ने, लेगा म्हने बिछाय
   नैना देना चंचल नार कूँ, राखेगा घूँगटा छिपाय
   आँख देना भल-घर नार कूँ, लेगा अबीनी फड़काय   ❀

लोकगीतों मे पक्षियों का वर्णन प्रमुखतः तीन रूपों में प्राप्त होता है–

१. युग्म भावना के प्रतीक के रूप मे,

२. प्रेमी एवं प्रेमिका के सन्देश-वाहक के रूप में,

३. मधुर एवं प्रिय भाषी होने के रूप मे।

जल-थल एवं गगन मे स्वच्छन्द विचरण करने वाले पक्षी-युग्मों में क्रौंच, सारस, हंस एवं चक्र-वाक आदि प्रमुख है। हिन्दी के महाकवि बिहारी ने उन्मुक्त एवं बाधा-विहीन सुख का उपभोग करने वाले दम्पत्ति के रूप मे कबूतर का भी वर्णन किया है।[1] मालवी लोकगीतो में क्रौंच-मिथुन का वर्णन तो अप्राप्य है किन्तु प्रेमी-युग्म का चित्रण करने के लिये सारस, कबूतर, हँस एवं मयूर आदि पक्षियों का चित्रण अवश्य हुआ। एक गीत मे सारस को प्रेयसी के रूप मे अङ्कित किया गया है, जिसके आकर्षण के कारण एक स्वकीया बड़ी व्यथित है।[2] प्रेमी एवं

※ पाँव देना कालाचोर ने, झट से म्यागो जाय।
खुर्या देना सुर्या गाय ने, लेगा अंग लगाय,
जिनसे पवित्तर हुई जावाँ, आंत देना सिरी गोड़ (श्री गौड़) ने
जारी जनोई बनाय —२।१२३, पृष्ठ ७५

१. पट पाँखै भकु कांकरे, सदा परेई संग।
सुखी परेवा जगत में, तू ही एक विहंग

२. ऊंचा आं तमारा ओवरा, नीची बंधावा पटसाल्
राजाजी का मेलों मे सारस रमी रया
हमारा बुलायां सारस नी बोले
आलीजा बुलायां सारस दौड़ी-दौड़ी जाय–मालवी लोकगीत (परमार)
पृष्ठ ११

प्रेमिका के लिये हंस-हंसनी का प्रतीक लिया गया है। [१] प्रेम की अनन्यता के लिये, स्वकीया की प्रतिष्ठा के लिये पति से आग्रह कर सावधान किया गया है कि घर का अप्रिय वातावरण होते हुए भी, पत्नी के मनोनुकूल न रहते हुए भी अन्यत्र बिहार करने में जग-हँसाई होती है। यहां पति के लिये 'हंस' शब्द का प्रयोग किया गया है। [२] प्रेम की अनन्यता के लिये हंस का मोती चुगना भी लोकोक्ति-साहित्य का एक उदाहरण बन गया है। [3] कपोत-युग्म नायक-नायिका के प्रतीकार्थ को सूचित करते है। [४] मयूर का सुन्दर स्त्री के प्रतीक के रूप मे एवं युग्म-भावना दोनों स्वरूपों मे चित्रण हुआ है। मयूर-मयूरी के नृत्य के संकेत से प्रेमी-युगल के विहार का दृश्य अङ्कित किया गया है। [५] पक्षियों के अतिरिक्त एक गीत मे सुन्दर स्त्री के लिये 'हरिणी' का प्रतीक भी अपनाया गया है। नारी की सतीत्व-भावना की अभिव्यक्ति के लिये मृग-मृगी के प्रतीक का उल्लेख किया जा चुका है। एक मृग-यूथप के लिये

---

१. (क) हम हंसा की हंसणी रे
तम कव्वा से कंई काम ? —२।१२४ पृष्ठ ८२

(ख) कणी हंसा की हंसणी ओ प्यारी, कांई छे थारो नाम

२. हंसा सरवर ना तजो, जिको पाणी खारो होय।
डाबर-डाबर डोलतां, भला न कहसी कोय ॥

३. कै हंसा मोती चुगे, नई तो करे उपास —२।७३

४. साजापुर का सेर मे, चार कबूतर जाय।
पड़ोसन मार्‌यो कांकरो, म्हारी जोड़ी बिछड़ी जाय–मालवी दोहे ४०

५. (क) ओटला पे ओटलो रे, जिणमें बैठो मोर।
मोर बिचारो कंई करे घर को देवर चोर—मा० दोहे—२०

(ख) छज्जा उपर मोर नाचे खेले कुंवर दोय

अनेक मृगियां अपने प्राणों का विसर्जन करने को तत्पर हो जाती है किन्तु अपने प्रियतम की मृत्यु उनके लिये असह्य हो उठती है। [1]

सन्देश-वाहक पक्षियों मे कबूतर का बड़ा ही उपयोग होता चला आ रहा है किन्तु भारतीय लोक-साहित्य मे हंस एवं शुक दोनो पक्षियो का नायक-नायिका के प्रेम-सन्देश-वाहक के रूप मे चित्रण हुआ है। दमयन्ती का सन्देश-वाहक हंस एवं पद्मावती का सन्देश-वाहक शुक तो प्रसिद्ध ही है। लोक-कथाओं के साथ इन सन्देश-वाहको को भारतीय महाकाव्यों में भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। लोक-गीतों मे हंस अथवा कपोत का वर्णन सन्देश-वाहक के रूप मे प्राप्त नही होता। प्रकृति के इन मनोहर प्राणियो को छाड़ कर काग जैसे अशुभ एवं सौन्दर्य-विहीन प्राणी को प्रिय तक सन्देश पहुँचाने का कार्य सौंपा गया। राजस्थान एवं मालवी लोकगीतो मे काग ही विरहदग्धा नायिकाओ का सन्देश ले जाने वाला पक्षी है। [2] वर्षा की एकान्त भयावनी रात में विरह से व्याकुल कामिनी को जब बिजली की चमक कटार के समान प्रतीत होती है तब वह एकाकिनी भयाकुल होकर अपने प्रियतम के पास सन्देश भेजने के लिये काग-पक्षी को ही उड़ाती है। [3] शुक जैसे मधुर-भाषी पक्षी को छोड़

---

१. काए हिरणी क्यों दूबली चाल म्हारा देस।
खारा गऊँ की घूगरी रामतली को तेल। मा० दोहे— १

२. गोखाँ बैठी काग उड़ाऊँ
उड़ उड़ काग निमाणा, भँवर म्हारा कद आसी
—राजस्थानी लोकगीत क्रमांक १७५, पृष्ठ ४२४

३. बिरह से ब्याकुल कामणी जी................
एजी कँई बिलवी कड़के कटार
मारूणी थारी रातों भर मरेजी—
नित नित ढोला काग उड़ावती —मालवी लोकगीत पृष्ठ— २७

कर काग को ही लोकगीतों की नायिकाओं ने प्रेम-सन्देश पहुँचाने का कार्य सौंपा, यह एक आश्चर्य की बात हो सकती है। किन्तु विरहियों के मन की स्थिति पर यदि विचार किया जाय तो इसमें मनोविज्ञान-सम्मत कारण लक्षित होता है। विरह से त्रस्त व्यक्ति का मन ठिकाने नही रहता। संसार के प्रत्येक प्राणी से वह सहानुभूति प्राप्त करने की आकांक्षा करता है। वहाँ शुक और काग में अन्तर ही दृष्टिगत नह हो पाता। जायसी की नागमती भी भ्रमर एवं काग के द्वारा ही अपना सन्देश पहुँचाना चाहती है। जायसी ने उक्त भावना सम्भवतः लोकगीतो एवं लोक-कथाओ से ग्रहण की है। [1]

काग की बोली अप्रिय होती है। कर्कश स्वर में बोलने वाले अशुभ पक्षी के रूप मे भी इसका वर्णन मिलता है। [2] प्रेम-सन्देश पहुँजाने के अतिरिक्त विवाह आदि मांगलिक अवसरो पर भी निमन्त्रण एवं सन्देश भेजने की आवश्यकता पड़ती है। लोकगीतो की नारी यह कार्य भी पक्षियों के द्वारा ही साधती है। अनेक मांगलिक प्रसंगों पर काग जैसे अशुभ पक्षी को महत्व न देने मे नारी-मानस सजग दिखाई पड़ता है। पुत्र-जन्म के अवसर पर बहिन अपने भाई के यहा बधाई-सन्देश प्रेषित करने के लिये जिस पक्षी का उपयोग लेना चाहती है, उसका नाम विशेष न दे कर केवल 'लाल-परेवा' शब्द ही सम्बोधित किया है। [3] कुरजों एवं श्यामा पक्षी को स्वर्ग में सन्देश भेजने का कार्य सौंपा गया। इन पक्षियों

१. पियसों कहेउ संदेसड़ा हे भौंरा हे काग —जायसी ग्रन्थावली

२. मँगरे बैठ्यो कागलो, कुर कुर कुरखे कागलो —१।३१

३. उड़ उड़ रे म्हारा लाल परेवा नगर बधावो दीज्ये रे
गाँव नी जाणू नाम नी जाणू किणाँ ने दूँ बधावोजी
मालवी लोकगीत, पृष्ठ १४

को गगन पर ऊँचाई से उड़ता देख कर इनके स्वर्ग तक पहुँचने की क्षमता में विश्वास कर लिया है। विवाह के अवसर पर स्वर्ग में निवास करने वाले 'पितरों-पूर्वजों' को श्यामा पक्षी के द्वारा निमन्त्रण दिया जाता है।[१] राजस्थान के एक लोकगीत में कुरज पक्षी स्वर्ग के सिद्ध-पुरुषों का सन्देश भी लाता है।[२]

कोयल, मयूर आदि मधुर-भाषी पक्षियों का वर्णन ऋतुओ के गीतों में हुआ है। इन पक्षियों का उल्लेख उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। बसन्त के समय पपीहे की पुकार नायिका को प्रिय-सामीप्य की भावना से भर देती है और वह अपने प्रियतम को बाग–उद्यान एवं महलो में आकर मिलने का आमन्त्रण देती है।[3] कोयल अमराइयों में बोलती है वह शुक की बहिन है एवं उसकी चोंच मे 'दाना-चुगा' भी भरती है।[४] वर्षा-

---

१. सरग भवन्ती सांवली एक सन्देसो लेती जा
जई बूढ़ा गल्ला से यूँ कीजे—तम घर बरदोई हो—
ताला जड्या लोह का ने जड्या बजर किवाड़
काचा सूतर को पालणो—बन्ध्यो है सरग दुआर
बरद करो बरदावणा, हमारो तो आवणो नी होय–वही, पृष्ठ ८६

२. गगन भवन सूँ कुरजां ऊतरी, कई एक लाई बात ओ—
गोगाजी का गीत २२०   राजस्थानी लोकगीत पृष्ठ ५३१

३. भँवर म्हारा मेलां आजो जी, चतर म्हारा बागां आजो जी
म्हें बागां फिरूँ अकेली, पपइय्यो बोल्यो जी   —१।६४

४. हूं तम से पूछूँ म्हारा बाड़ी का सुआ
किने तमारी चोंच चुगा भरी—
अम्बा की डाल म्हारी बेन कोयलड़ी—
उने म्हारी चोंच चुगा भरी   —१।४२

कालीन गीतो में दादुर, मोर, पपीहे आदि पक्षियों का उल्लेख भी हुआ है। यह अनुकरण की प्रकृति का द्योतक है। बालिकाओं ने संजा के गीतों में भी पपीहे का नाम लिया ह।[1] इसी तरह घर की दीवार पर बैठी हुई चिड़िया का वर्णन कर कन्या से उसका साम्य स्थापित किया है कि दोनों ही अवसर आने पर घर से उड़ादी जाती हैं।[2]

मालव के जन–सामान्य का विशेषकर नारियों का जीवन-क्षेत्र अत्यन्त ही सीमित है। विद्वानो के समाज शास्त्र का गहन अध्ययन, देशाटन एवं प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षण आदि बातों से उनका जीवन कोसों दूर है अतः काव्य के शाश्वत् स्वरूप से परिचित न रहते हुए भी स्वयं की अनुभूति के आधार पर पशु-पक्षी आदि से सम्बन्धित जन-मानस की अभिव्यक्तियां देश और काल की सीमाओ में आबद्ध न होकर, परम्परा की वस्तु बन कर कवियो की अमर वाणी की तरह अनन्त सौन्दर्य की सत्ता अपने आप में छिपाये हुए है।

———

१. म्हारा आंगणे केल उगी—केल उगी,
हूं जाणूं के पपइयो बोल्यो
म्हारा बीराजी चढ़वा लाग्या—मालवी लोकगीत पृष्ठ ६४–६५
२. चाँदे बैठी चिड़कली, उड़ाव म्हारा दादाजी—
संजा बई चाल्या सासरे, मनाव म्हारा दादाजी —वही पृष्ठ ६९

११ लोक-कला की आदिम-स्थिति एवं गोदनाकृतियां (Tattooing)

कला मानस-मन में स्फुरित अभाव को मूर्त करने की एक साधना है। मनुष्य अपने आविर्भाव के साथ ही न जाने कितने अभावों से त्रस्त रहता आया है। संसार की सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि अभावो के प्रकटीकरण की प्रक्रिया में कला के विविध रूपो का आविर्भाव हुआ है। इन रूपो से मानव-हृदय में एक ओर जहाँ तोष, गर्व और सुखानुभूति का स्पन्दन होता है, वही अभाव की क्षतिपूर्ति की चेष्टा मे अनेक वस्तुओ का आविष्कार भी होता है। एक समय था, जब मनुष्य को प्रकृति की खुली गोद मे विश्राम करने के अतिरिक्त आवासगृह की कल्पना भी नही थी। कौन जाने, पक्षियो के सुरम्य घोसले, मधुमक्खियो के छत्ते एवं मकड़ी के जाल को देख कर आदि-मानव के हृदय मे अपने निवास-स्थान के बारे मे प्रथम विचार जाग्रत हुआ होगा। मानवेतर प्राणियो मे; जिनमे पक्षी, चीटी एवं मधु-मक्खी आदि विशेष उल्लेखनीय है, अपने आवास-निर्माण की प्रवृत्ति जन्म-जात होती है। किन्तु मनुष्य में यह प्रवृत्ति सहज नहीं, परिस्थिति-जन्य है। प्रकृति के कष्टदायी प्रकोप—कड़ी धूप, शीत एवं वर्षा से बचने के लिये मनुष्य ने सर्वप्रथम सघन वृक्ष अथवा पहाड़ी चट्टानों के अंचल में आश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार विश्व की समस्त आदिम जातियों का आश्रय-स्थान पर्वतीय गुफाओं के रूप में ही प्राप्त है। गुफाएं मानव एवं

पशुओं के लिये प्रकृति-निर्मित निवास-स्थल है। झोपड़ियाँ, तम्बू, मिट्टी के कच्चे मकान, ईंट और पत्थरों से निर्मित भवन, अट्टालिकाएँ एवं राजप्रासाद आदि के निर्माण में तो जीवन की कला के साथ, आनन्द की कला का समावेश होकर उसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है।

मनुष्य के लिये निवास की व्यवस्था उसकी प्रथम आवश्यकता है। झोंपड़ी अथवा साधारण कच्चे मकान बनाना उसके जीवन की पहली कला है। किन्तु मनुष्य का हृदय जब अपने चारो ओर प्रकृति के सौन्दर्य को देखता है, तब बरबस उस सौन्दर्य के प्रभाव को रेखाओं के माध्यम से प्रकट करना चाहता है। उसके जीवन के सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं और जीवित प्राणियो की रेखा-कृतियों को अपने मकान की भीतो पर उतारने की चेष्टा करता है। यही चेष्टा उस आनन्द की कला का प्रारम्भिक रूप है, जो चित्रकला के रूप में विकसित हुई। सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रूचि के व्यक्तियों को कला का यह आदिम स्वरूप अनाकर्षक लगे किन्तु साधारण जन-मानस तो अपनी कलागत रूचि के इसी स्तर को अपनाये हुए है। भारतीय ग्रामो के मकानो की कच्ची या पक्की भीतो पर, द्वार के निकट के दोनों ओर दीपावली के अवसर पर मकान की लिपाई-पुताई करते समय ग्रामीण स्त्रियाँ कुछ रेखा-कृतियाँ अङ्कित कर देती है। इस अंकन में गृह के शोभा-सौन्दर्य को आकर्षित ढंग से प्रस्तुत करने की भावना ही प्रमुख है। यहां धार्मिक अथवा आनुष्ठानिक अवसर पर अङ्कित किये जाने वाले थापे, माँडने आदि रेखा-कृत्तियों को प्रस्तुत करते समय जो भावना रहती है, उसका सर्वथा अभाव है। पूजा और पर्व के समय अङ्कित किये जाने वाले रेखाचित्रों में मंगलाभिलाषा, पूजा भाव और सौन्दर्य की मिश्रित भावना रहती है। किन्तु मकानों पर सामान्य स्थिति में चित्रित आकृत्तियाँ नारी-मानस की सौन्दर्य-वृत्ति का ही

उद्‌घाटन करती हैं। जहाँ तक रेखाकृतियों के वर्ण्य-आधार का सम्बन्ध है, घरेलू एवं कृषक-जीवन में नितप्रति देखी-परखी जाने वाली वस्तुओं का ही उसमें समावेश रहता है। उज्जैन के निकटस्थ ग्रामों के घरों के बाहर दिवालों पर अङ्कित १२ रेखाकृतियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिससे जन-मानस की कलागत रूचि के आदिम स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है !

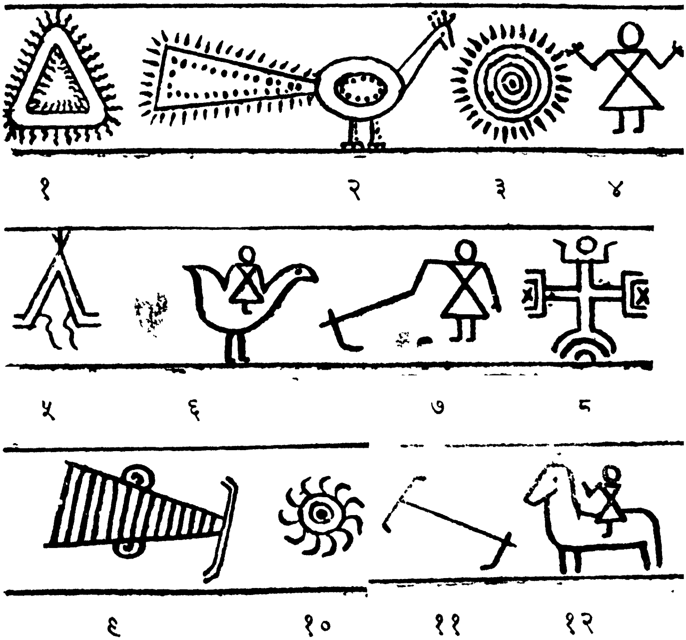

१. सेरा–मोरा २. मोर (मयूर) ३. भँवरो ४. मनख (मनुष्य)
५. मोड़ (मुकुट) ६. सारस ७. हाली (हल चलाने वाला श्रमिक)
८. बाजोट (काष्ठ-वेदिका) ९. गाड़ी १०. घुगरो ११. हल १२. लाड़ो ने घोड़ो (वर एवं अश्व)

गोदनाकृतियां

वासस्थान के पश्चाद् मनुष्य के जीवन की कला में दूसरा महत्व का स्थान शरीराच्छन्न के लिये प्रयुक्त साधनों का आता है। वैसे वस्त्रादि आवरण का आविष्कार मानव-शरीर को गर्मी-सरदी से बचाने की चेष्टा में हुआ है। कपास की जानकारी प्राप्त करने के पूर्व आदिम युग का मानव अपने शरीर को ढकने के लिये वृक्षों की छाल, पत्ते और पशुओं के चमड़े आदि का उपयोग करता आ रहा है। इन साधनों के अभाव में शरीर पर मिट्टी का लेप करने की प्रथा भी प्रचलित रही है। डॉ० टायलर ने अन्दमान द्वीप के निवासियो में प्रचलित इसी प्रकार की प्रथा का उल्लेख किया है। नग्न अथवा अर्धनग्न अवस्था में रहने वाली आदिम जातियां अपने शरीर पर मिट्टी अथवा मिट्टी-मिश्रित रंगो का लेप करती है, वहाँ त्वचा को गर्मी और मच्छर आदि कीटाणुओ से बचाने की उपयोगिता तो स्पष्ट है।[1] किन्तु जब वे लेप के आवरण पर अपनी अंगुलियो से कुछ रेखाएं अङ्कित करने का प्रयास करते है, तब उनकी यह चेष्टा जीवन की सामान्य कला न रह कर, सौन्दर्योन्मुखी आनन्द की कला का स्वरूप धारण कर लेती है। यहाँ उपयोगिता के साथ ही हमें अलंकरण की आदिम प्रवृत्ति का आभास भी मिलता है। कोरी आवश्यकता की पूर्ति के लिये कोई भी मनुष्य अपने शरीर को आच्छादित नही करता। दूसरों को अपने व्यक्तित्व का आभास कराने के लिये वह अपने शरीर को विभिन्न रूपों से सजाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों को चित्रित करने के मूल में अलंकरण की भावना है। यही भावना शरीर पर गोदनाकृतियों को अङ्कित करने की प्रथा को जन्म देती है। संसार की

---

१. सर इ. बी. टायलर : एन्थ्रोपोलॉजी, भाग २, पृष्ठ ६–७ (थिकर्स लायब्रेरी का संस्करण)

समस्त आदिम जातियों में गोदने की प्रथा का व्यापक प्रसार है। और इस प्रथा के साथ ही विभिन्न जातियों में तत्सम्बन्धी मान्यताएं एवं समाजगत मर्यादाओं ने भी अपना स्थान बना लिया है। न्यूजीलैन्ड की आदिम जाति की स्त्री यदि अपने मुख पर गोदनांकन नहीं करती, तो उसे लज्जा का अनुभव होने के साथ समाज में उसके कार्य को लज्जापूर्ण कह दिया करते थे। रक्त-वर्ण अधर वाली, गोदन-चिह्नो से शून्य महिला को उस समाज मे अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता था।[1] जैसे-जैसे वस्त्र एवं आभूषण-कला का विकास होता जा रहा है, वैसे ही गोदन की प्रथा में सौन्दर्यगत भावना का ह्रास होता जा रहा है; क्योंकि सम्पूर्ण शरीर को वस्त्रों से ढक लेने पर गोदनांकन के आकर्षण का मूल्य ही क्या रह जाता है। किन्तु मुख और भुजा पर गोदने के चिन्ह अङ्कित करने की प्रथा आज भी प्रचलित है। भारत के विभिन्न जनपदो में स्त्रियों मे विशेष रूप से गोदनांकन की ओर विशेष रुचि है। इस रूचि मे आकर्षण भाव तो है, किन्तु अन्ध-विश्वासगत मान्यताएं भी अधिक है।

सौन्दर्य-वृद्धि के लिये जन-जातियो की अधिकांश स्त्रियां आज भी निम्नलिखित अङ्गो पर गोदनांकन करती है—

१. कनपटी के दोनों ओर २. नाक के नथुनो के ऊपर ३. कपोल ४. चिबुक (ठोडी) ५. भुजा, ६. कलाई ७. पोचा (मणिबन्ध) ८. टांगों की पिण्डलियां ९. कपाल पर 'टीकी' के रूप में

गोदना के प्रतीक चिन्हों में परम्परागत प्रतीकों के महत्त्व के साथ ही फूल-पत्तियां कृष्ण-हनुमान आदि आकृतियां एवं नाम आदि का अङ्कन भी होने लगा है। किन्तु गोदनांकन के लिये जो अन्ध-धारणाएं हैं, वे

---

१. वही,

बड़ी रोचक हैं। नाम आदि का अङ्कन तो व्यक्ति की पहिचान के लिये उपादेय हो सकता है; किन्तु यह मान कर चलना कि इस लोक को छोड़ने के पश्चात् स्वर्ग में ये गोदनाचिह्न पहिचान बतलाने में सहायक होंगे, जनता की अपनी धारणा है। फ्रेजर ने ('दी गोल्डन बो' (संक्षिप्त संस्करण) १९५४; पृष्ठ १८० में) पंजाब की जातियों मे प्रचलित एक अन्ध-धारणा का उल्लेख किया है कि मृत्यु के समय मानवी शरीर तो यहीं रह जाता है, किन्तु शरीर में वास करने वाली आत्मा जब देह-त्याग कर स्वर्ग को जाती है, तब गोदना के प्रतीक चिन्ह ही वहाँ साथ जाते हैं। इसी तरह इन प्रतीकों को अमंगल निवारक माना जाता है। मालव की महिलाओ में प्रचलिल परम्परागत अङ्कन के कुछ प्रतीक-चिह्नों से नारी मानस की विविध धारणाओं का स्पष्टीकरण हो जाता है:—

प्रतीक चिह्न

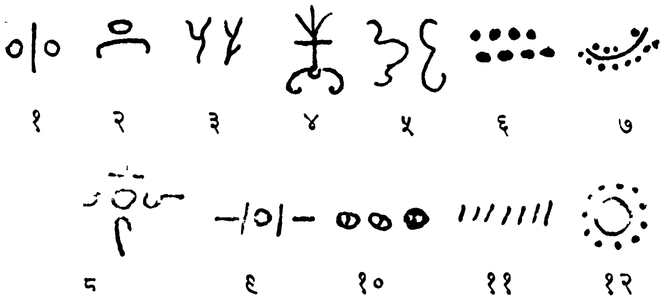

मालवी नाम—

१. आंधा—आंधी की लाकड़ी २. चूलो—कड़ेली ३. लौंग
४. ऊँदा माथा की सौक ५. भाई—बीज ६. लाड़ा—लाड़ी (लाड़ला—लाड़ली) ७. आधो चांद ८. गोर बसण्या
९. पोंची १०. तीन मण (मन) जुवार
११. राम को नाम १२. चांद

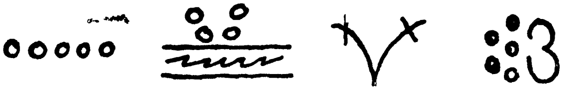

१३ १४ १५ १६

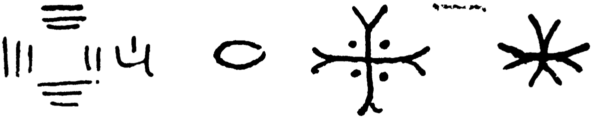

१७ १८ १९ २०

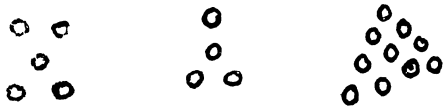

२१ २२ २३

प्रस्तुत प्रतीकों में चूला—कड़ेला, लौग, पोंची (हाथ का मणिबन्ध), चौपड़, खोपरा की बाटकी, पतासा (बताशे) आदि घरेलू वस्तुओं से सम्बन्धित है। बर्तन, खाद्य—वस्तु, आभूषण और मनोरंजन के प्रसाधन की कोटि में इन प्रतीकों का एक श्रेणीविभाजन किया जा सकता है। इनके अङ्कन में कोई विशेष भाव न होकर केवल स्थूल सौन्दर्य—दृष्टि का परिचय मात्र ही मिलता है। अपने जीवन से सम्बन्धित उपयोगी वस्तुओं पर प्रायः पहले ही हमारी दृष्टि जाती है।

चाँद, आधा चांद, रई के फूल आदि प्रतीकों में प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण भाव है। धार्मिक एवं आनुष्ठिक महत्व के भित्ति—चित्रों में भी

---

१३. पीयर बाट १४. सैंया १५. राम—रसोई १६. कुन्डी
१७. चौपड़ १८. खोपरा की बाटकी। १९—२०. रई को फूल
२१. पतासा, २२. भई गाल् २३. कनपटी।

प्रायः सूर्य और चन्द्र अङ्कन रहता है। अर्धचन्द्र का अङ्कन प्रायः कनपटियों पर किया जाता है। इससे आंखों में आकर्षण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। मध्य–भारतीय क्षेत्र के भीलों में पुरुष दोनों कनपटियों पर आंख के पास ही अर्धचन्द्राकार की दो रेखाएं गुदवाते हैं, वे अपनी भाषा में इसे 'चिरल्या' कहते है। इस अङ्कन का उद्देश्य भी आंखो के बांकपन (आकर्षण) को जाग्रत करना है।

'भाई–बीज' और 'गोर–बसण्या' धार्मिक पर्वों की स्मृति को सजग रखते हैं। भाई–बीज (दूज) में जहाँ भाई के प्रति बहिन का स्नेह सुरक्षित है वहीं गोर–बसण्या में मालवी नारी की सौभाग्य कामना प्रकट होती है। 'राम का नाम' प्रतीक ईश्वर के प्रति श्रद्धा का सूचक है। दैनिक जीवन की व्यस्तता में ईश्वर का नाम यदि मुख से न निकले तो क्या हुआ ? शरीर पर तो उसका अङ्कन है।

'लाड़ा–लाड़ी' या लाड़ला–लाड़ली में प्रेमी–प्रेमिका या नवदम्पति के प्रणय के उल्लास को व्यक्त किया गया है।

'आँधा–आँदी की लाकड़ी' में जीवन के लिये निराधार स्थिति में किसी आधार के प्रति निष्ठा प्रकट की गई है।

सौत के प्रति भारतीय नारी का कभी भी सद्भाव नही रह सकता। सपत्नी के लिये उसके हृदय में सदा ईर्ष्या ही रहेगी, क्योंकि वह प्रणय के क्षेत्र में बंटवारा कर लेती है। सौत को औंधे माथे से लटकाने की कल्पना में नारी हृदय की ईर्ष्यागत कुढ़न ही प्रकट होती है। अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ बहुपत्नी प्रथा के प्रति नारी का सहज रोष भी देखा जा सकता है।

'पीयर-बाट'—मायके की ओर ले जाने वाला मार्ग मालवी नारी

को कितना प्रिय है, कि वह उसे भी प्रतीक रूप में अपने अङ्ग पर स्थान देती है। मायके के प्रति ममत्व किसे नही होता। 'पीयर' के स्नेहिल वातावरण को दुर्दिन में स्मरण कर लेने भर से नारी का हृदय शान्त्वना प्राप्त कर लेता है।

'भाई गाल्' प्रतीक द्वारा भाई के प्रति बहिन की मंगलकामना का निर्मल स्रोत उमड़ उठता है। बहिन भाई का अमंगल या अनिष्ट निवारण के लिये सदा चिन्तित रहती है। कोई व्यक्ति (स्त्री हो या पुरुष) यदि बहिन के भाई को अमंगलमयी गाली दे और उसका प्रभाव उसके भाई पर पड़ जाय, यह सम्भव है। इसी सम्भावना के निवारण के लिये बहिन 'भई गाल्' चिन्ह को अपने हाथ की पहुँची पर अङ्कित करती है।

वस्तुतः लोक-जीवन की उमंगों ने ही कला के वर्चस्व को प्रतिष्ठित किया है। मानव हृदय के सरल, सहज स्वरूप को पहिचानने के लिये गोदनाकृतियां भी एक माध्यम है।

---

१२ | बालकों के गीत

स्त्री और पुरूषों के गीतों की तरह बालकों के भी अपने गीत होते हैं। इन गीतों की प्रवृत्तियो में भी उतना ही अन्तर होता है जितना कि एक बालक और युवा मनुष्य की रूचि, प्रवृत्ति और आयु में अन्तर होता है। बालक-बालिकाओं में जग-जीवन को समझने की क्षमता तो होती नहीं, परन्तु अनुकरण की प्रवृति इनमें बड़ी प्रबल रहती है। वे अपने माता–पिता एवं अन्य स्त्री–पुरुषों को विभिन्न अवसरों पर गाते देखते हैं तो उनके मन में भी गीत गाने की लालसा उत्पन्न होती है। यह लालसा सामूहिक रूप में प्रकट होती है, और जहाँ कही भी दो–चार बालक या बालिकाएं एकत्रित हुए नहीं कि उनके खेल प्रारम्भ हो जाते है। इन खेलों में गीतो का समावेश भी होता है। उनके ये गीत बड़े लोगों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति के सूचक अवश्य है, किन्तु इस अनुकरण में बड़ी रोचकता है, जो उन्हें जीवन के दुर्धर्ष एवं विशाल क्षेत्र में अवतीर्ण होने के लिये सक्षम बनाती है।

तीन या चार वर्ष की आयु के बालक प्रायः किसी छोटे खेल में व्यस्त दिखाई देगें। यह प्रवृत्ति इस आयु के सामान्य बच्चों में अवश्य ही देखने को मिलेगी कि वे किसी भी नवीन खेल का आयोजन कर अन्य बालकों को भी उसमें सम्मिलित कर लेते हैं।[1] खेलने की प्रवृत्ति तो बालक–

---

1. 'Child Psychology' by Fowler D. Brooks, Page 384

बालिकाओं के शैशव का धर्म है। इसी में उनके अनेक गीत भी फूट पड़ते हैं। इन गीतों के शब्द, वाक्य एवं भाव बाल–मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़े रोचक होते है। वैसे एक वर्ष का शिशु अपनी भाषा का प्रारम्भ केवल एक शब्द से ही करता है। एक शब्द ही मानों उसकी भावना को प्रकट करने के लिये एक वाक्य के समान है। आयु की वृद्धि के साथ ही बच्चों के वाक्य एवं उनका सीमित शब्द-कोष उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। तीन से छः वर्ष की आयु के बीच का बालक ६०० से लगाकर २५०० शब्द प्राय जान लेता है।[1] किन्तु यह स्थिति यूरोप आदि पश्चिमीय जगत में मान्य हो सकती है, जहाँ का सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक वातावरण सामान्य बालकों के लिये भी एक अनुकूल एवं विकासमय बन जाता है। मालवा एवं भारत के अन्य प्रदेशो के ग्रामीण बालकों पर उनके घर एवं वातावरण का जो प्रभाव पड़ता है, उसके अनुसार यूरोप के बालकों की वे समता तो नहीं कर सकते। किन्तु तीन और छः वर्षों के मध्य की आयु के बालको की कल्पना उनके खेल और गीतों में प्रकट होती है, वह अवश्य ही आकर्षक है। आयु की दृष्टि से खेल के इन गीतों को दो श्रेणी में रख सकते हैं:—

१. तीन से छः वर्ष की आयु के शिशुओं के गीत,
२. छः से सौलह वर्ष तक की आयु के, बाल्य और किशोरावस्था के गीत,

शिशुओं के कुछ 'छन्द खेल' गीतात्मक होते हैं। इन गीत-पंक्तियों में तीन–चार से अधिक शब्दो का प्रयोग नही होता। यह शिशुओं के मानस–विकास की स्थिति का सूचक है। इन गीतों की कल्पनाएं भी बडी विचित्र एवं असम्बद्ध होती है। खेल से सम्बन्धित होने के कारण

---

1. Gregory, in Journal of Educational Research, Vol. 7. Page 127–131.

शिशु एवं बालकों के इन गीतों को 'क्रीड़ागीत' की संज्ञा देना ही उपयुक्त जान पड़ता है। क्रीड़ा गीत शिशु एवं बड़ी आयु के बालकों में समान रूप से गाये जाते हैं। सम्पूर्ण मालवा में प्रचलित निम्नलिखित क्रीड़ागीत शिशुओं के खेल और मनोरंजन का प्रमुख साधन है—

अटली–मटली, चव्वा–चन्नन।
आवे नार, जावे नार।
अगला झूले, बगला झूले।
सावन मास––करेली फूले।
फुल–फुल की बावड़ी–राजा गयो दिल्ली।
दिल्ली से लायो, सात कटोरी।
एक कटोरी फूटी, राजा की टाँग टूटी। [1]

शिशुओं द्वारा गेय इस प्रकार के क्रीड़ागीत ब्रज, बुन्देलखण्ड और अवध में भी प्रचलित है। उपरोक्त क्रीड़ा-गीत को ब्रज में 'आटे–बाटे' कहते है। मालव में गीत की प्रथम पंक्ति पर ही क्रीड़ा एवं क्रीड़ागीत का नाम 'अटली–मटली' प्रचलित है। 'आटे–बाटे' में मालवी गीत से मिलती–जुलती कुछ पंक्तियां प्राप्त होती हैं। [2] शिशुओं के इन गीतों में स्वर-साम्य एवं लय का अधिक महत्व है। क्रीड़ा-विशेष में सम्मिलित शिशुओं के कण्ठमाधुर्य से एक निश्चित गति में जो स्वर प्रवाहित होते

---

१. पाठान्तर (क) अटकन–मटकन (ख) दही–चटाका,
लेखक का गीत-संग्रह, भाग १ गीत क्रमांक १

२. अटकन–बटकन, दही–चटक्कन।
बाबा लाये सात कटोरी, एक कटोरी फूटी,
मामा की बहू रूठी,
—डॉ० सत्येन्द्र, 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ९७

हैं, वहाँ उच्चरित शब्द लयात्मक होकर गीत का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस गीत-माधुरी को प्रकट करने के लिये बच्चों को कोई शिक्षण प्राप्त नही होता, वरन् अन्तः प्रवृति से ये गीत स्वयं ही उमड़ पड़ते हैं। यह बात अवश्य है कि शिशुओं को पालने में लोरियो की मधुरिमा का गीत-रस पान करने को मिलता है और माता के ममता भरे संगीत से पोषित होने के कारण उनके संस्कार बन जाते हैं। अतः क्रीड़ागीतों के मूल मे लोरियों का प्रभाव और प्रत्यक्ष में उसका अनुकरण स्पष्ट है। तुतलाती हुई, अस्फुट अथवा अर्धस्फुट वाणी मे जब प्रथम बार इन गीतों का उच्चारण होता है, वात्सल्य रस में निमग्न एक अनुपम भावभूमि का निर्माण होता है। शिशुओं के ये गीत वात्सल्य के गीत है। इनमें आश्चर्य, कौतूहल एवं जिज्ञासा की भावोर्मियाँ बाल-मानस के शाश्वत् एवं अकृत्रिम सौन्दर्य को प्रकट करती है।

शिशु जब कुछ बड़ा होता है और संसार की वस्तुओ को समझने एवं परखने का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति मे होता है, तब बुद्धि की परीक्षा के लिये कुछ गीत-क्रीडाओ का आयोजन होता है। दैनिक जीवन से सम्बन्धित कुछ वस्तुओं को लेकर बालक आपस में ही ज्ञान की परख करते है—

'सिंगी मे सिंगी—भैंसा सिंगी ? हाँ—हूं
सिंगी में सिंगी—गाय-सिंगी ? हाँ—हूं
सिंगी में सिंगी—बैल सिंगी ? हाँ—हूं
सिंगी में सिंगी—गद्दा सिंगी ?' '..........'

सीग वाले पशुओ का नाम लेकर एक बालक प्रश्न करता है। अन्य सब बालक 'हां—हूं' के सम्मिलित स्वर मे स्वीकार करते है कि भैंस, गाय, बैल आदि के सींग होते है। सीग वाले पशुओं के नाम के साथ बीच-बीच

में दो-चार ऐसे भी पशुओं के नाम ले लिये जाते हैं, जिनके सींग नहीं होते। यदि भूल से किसी बालक के मुँह से उस समय 'हाँ–हूं' की स्वीकारोक्ति निकल गई तो उसकी खूब 'धौल-धप्प' की जाती है। हार मानने पर वह छूट पाता है। इसी तरह 'दाल' आदि धान्य को लेकर उपरोक्त पद्धति की गीत-क्रीड़ा है—

दाल में दाल—तूअर की दाल ? — हाँ–हूं,
दाल में दाल—चने की दाल ? — हाँ–हूं,
दाल में दाल—मूँग की दाल ? — हाँ–हूं,
दाल में दाल—गेहूं की दाल ? — '............'
दाल में दाल—चांवल की दाल ? — '............'

शिशुओं के गीतों के अतिरिक्त बालकों के अन्य गीतों में विविध प्रसंग होते हुए भी क्रीडात्मक प्रवृत्ति ही अधिक है। प्रवृत्ति एवं वर्णित विषय की दृष्टि से इन गीतों का विस्तार के साथ निम्नलिखित वर्गीकरण किया जावेगा—

बालकों के गीत

- क्रीड़ागीत
  - मक्कड़ माता
    - अबल्या–छबल्या—
      - शिक्षारंभ के गीत
- मनोरंजन के लिये गेय (सल्ला, हिरणी)
- व्रत एवं त्योहारों से सम्बन्धित (संजा, घुड़ल्या, हीड)
- अनुष्ठान एवं अन्धविश्वास से सम्बन्धित
  - डँडक माता

इन गीतों में बालक और बालिकाओं के गीत सम्मिलित हैं। बालकों

के गीतो की संख्या बालिकाओं के गीतो की अपेक्षा बहुत ही कम हैं। मनोरंजन की दृष्टि से बालकों द्वारा गेय केवल एक ही गीत-पद्धति है, जिसे 'छल्ला' कहते हैं। हिरणी, डेंडकमाता और मक्कड़माता आदि गीत बालक और बालिकाओं द्वारा सम्मिलित रूप से भी गाये जाते है। बालिकाओं के गीतों में संजा, घुड़ल्या एवं अबल्या-छबल्या आदि गीत प्रमुख है। मन की मौज और उमंग को प्रकट करने के साथ ही व्रत एवं त्यौहारो से सम्बन्धित होने के कारण कुछ गीत आनुष्ठानिक महत्त्व भी रखते है। संजा के गीत इसी प्रकार की भावना से ओत-प्रोत है। इन में मनोरंजन के साथ धार्मिक भावना की परम्परा भी मिली हुई है।

बालक-बालिकाओ के गीत उनकी आयु, ज्ञान और बौद्धिक-स्तर को पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित करते है। वयः सन्धि के पूर्व किशोरावस्था में बालक-बालिकाओं की मानसिक स्थिति बड़ी विचित्र रहती है। अपनी अपरिपक्व बुद्धि से वे जीवन और जगत को परखने की चेष्टा करते है अतः उनके गीतो में बाल-सुलभ कल्पनाएं, बच्चो-सी उछल-कूद एवं बाल-स्वभाव के अनुकूल किसी वस्तु को परखने का दृष्टिकोण रहता है। उनकी अस्फुट भाव-व्यंजना में बाल-चाचल्य के साथ ही स्वच्छन्दता एवं निर्द्वन्द्वता की प्रवृत्ति भी प्रकट होती है। बालकों के इन गीतों में हम किसी गहन-चिन्तन की अपेक्षा नही कर सकते किन्तु किसी भी वस्तु-स्थिति को परखने का उनका कल्पना-मिश्रित प्रयास बड़ा ही आश्चर्य-जनक होता है। मनोरंजन एवं विनोदयुक्त खेल ही खेलने में वे कभी-कभी जीवन के ऐसे मार्मिक एवं कटु-सत्य को पकड़ते हैं कि हमें कुछ क्षण उनकी असम्बद्ध एवं सारहीन लगने वाली बातों पर भी सोचना पड़ता है। संजा के एक गीत का उदाहरण है—

'बांदे बेठी चिड़कली—उड़ाव म्हारा दादाजी !

आँगण बठा पावणा जिमाव म्हारा काकाजी !
संजा बई चाल्या सासरे मनाव म्हारा दादाजी !

इन गीतों में तीन बातों का एक साथ उल्लेख हुआ है:—

१. मकान की छत पर चिड़िया बैठी हुई है, उसके उड़ाने के लिये संकेत ।

२. घर के आंगण में अतिथि बैठे हैं; उनको सादर भोजन करवाने का आग्रह ।

३. संजा बई ससुराल जा रही है, उसको रोकने का निवेदन ।

चिड़िया, पावणा एवं संजा बई—इन तीन शब्दो की पृष्ठ-भूमि में कन्या की बिदाई का सम्पूर्ण दृश्य हमारो आंखो के सामने आ जाता है । बालिकाओं ने किसी कन्या के विवाह पर बिदाई का दृश्य देखा होगा और उन्होंने अपने शब्द-ज्ञान एवं सूझ-बूझ के अनुसार उसको प्रस्तुत करने की चेष्टा की । चिडिया एवं ससुराल को भेजी जाने वाली कन्या के प्रतीक 'संजा' में कितना साम्य है ! चिड़िया आकर हमारे मकान की छत पर बैठ गई है, उसे उडा देना चाहिए । कन्या ने हमारे घर जन्म लिया है, उसे ससुराल तो भेजना ही पड़ेगा । श्वसुर-गृह के लिये प्रस्थान करने-वाली कन्या को मनाने का प्रयास भी कौन करेगा ? वह रूठ कर तो जा नही सकती ! पर कुछ दिन मायके में रहने का आग्रह भी नही करते ! 'पावणां' शब्द नव-विवाहिता कन्या के पति के लिये प्रयुक्त किया गया है ।

बालक मनुष्यों की बाह्य चेष्टा एवं चाल-ढाल को देखकर स्थिति को परखने की कोशिश भी करते है । ऊपरी हाव-भाव को देखकर वे अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्य को समझने की चेष्टा भी कर लेते है:—

---

१. श्याम परमार—'मालवी लोकगीत', पृष्ठ ६१ ।

'म्हारो मामो आयो रे ! नखराळी मामी लायो रे,
नकटी ने पूछी बात—धमक मे पड़ो ऊँके लात !' [1]

मामा जब नखराली पत्नी को लेकर आया तो किसी नाक-कटी स्त्री ने उस मामी को छेड़ दिया होगा। मामा ने अपनी नई रूपसी के सन्मुख पौरुष का प्रदर्शन करने की दृष्टि मे ही सही, उस बेचारी नकटी का दो-चार लातो के प्रहार मे स्वागत किया होगा। 'म्हारो मामो आयो रे……' पंक्ति में बालक अपने मामा के आगमन से प्रेरित अत्यधिक प्रसन्नता को प्रकट करता है, किन्तु नखरेदार मामी के रूप-गर्व और उस पर न्यौछार होने वाले मामा की तुनक मिजाजी को समझने में भी वह देर नहीं करता। हास्य-कौतुक की भावना के साथ एक सामान्य घटना-सत्य की पकड कितनी रोचक है।

बालक-बालिकाओ के गीतों में कल्पना का आधार उनकी आंखों-देखी वस्तुओं पर निर्भर रहता है। गीतो में वर्णित जीवन से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओ की सूची यद्यपि विस्तृत नही है, फिर भी जो कुछ उनके द्वारा देखा जाता है, सामान्य जीवन के वातावरण मे उपलब्ध वस्तुओं पर उनकी दृष्टि दौड़ जाती है। बालिकाओ के गीतो मे गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बन्धित वस्तुओ का उल्लेख अधिक हुआ है। गीतो मे निर्दिष्ट उनके ज्ञान-भण्डार का विश्लेषण नीचे लिखे अनुसार किया जा सकता है—
१. पशु-पक्षी—हाथी-घोडा, [2] गद्दा—गद्दी (गधा—गधी); [3] बैल,

---

१. छल्ले के गीत की कुछ पंक्तियाँ।— १।६ छल्ला १४,

२. संजा का सासरा से हाथी आया,
घोडा बी आया, जाओ संजा बई सासरे —'सजा' का एक गीत,

३. म्हारा बीरा की आल सूखे, पाल सूखे—
गद्दो भूकै गद्दी भूकै, भौं—भौ भट्ट—डेंडक माता गीत की पंक्तियाँ

हिरणी,[1] चिड़कली, पपइय्या (पपीहा),[2] मोर,[3] (मयूर) मुरगडा (मुर्गा) आदि ।

२. पुष्प-वृक्ष——पीला फूल, जामुन की डाल, केल (कदली वृक्ष), आम्बा-डाल, आमली (इमली), खजूर, पीपली, तूमड़ा की बेल आदि ।

३. वस्त्र-आभूषण—चूनड़, ओढ़नी, घाघरा (लहंगा), फूलो की काँचली (कंचुकी) झगल्या-टोपी, माणक-मोती, टीको, माला (कण्ठहार) भम्भर, चुडलो (चूड़िया) टूकनी (कर्णफूल) आदि ।

४. खाद्य-पदार्थ—खाजा-रोटी, लाड्डू, खीर, लापसी, गाकर, गेहूं और तरकारियां आदि ।

५. जातियो के नाम—बामण (ब्राह्मण), बाण्या (बनिया), नाई, माली, बागरी, बलाई (हरिजन जातियां), कानगुवाल आदि ।

६. प्रकृति के दृश्य—चांद, सूरज, हिरणी (मृग-नक्षत्र), चाँदनीरात आदि ।

७. अन्य वस्तु—गाड़ी, रेल, पालकी, तलवार, रोकड़ा (रुपया) आदि ।

---

१. चाँद गयो गुजरात
कि हिरणी उगेगा, बई उगेगा —संजा का एक गीत

२. म्हारा पिछवाड़े केल उगी, केल उगी–
हूं जाणी के पपइयो बोल्यो —संजा का गीत

३. बोर की गुठली लई ग्या चोर
चोर का घर में नाचे मोर
मोर मुरगडा उड़ी गया–
सासू रांड के लई उड्या —घुडल्या गीत की पंक्तियाँ

बच्चों को पशु-पक्षियों के नामों की जितनी जानकारी है, प्रसंगवश गीतो में उनका उल्लेख हुआ है। वृक्ष, पुष्प एवं प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता की ओर भी बालकों का ध्यान अवश्य ही आकर्षित हुआ है किन्तु उसमें सौन्दर्यानुभूति की अपेक्षा विषय की जानकारी और प्रकृति को समझने में स्थूल दृष्टिकोण रहता है। कहीं-कही पर विचित्र कल्पनाएं की गई है। बालिकाओं को यह मालूम है कि चन्द्र का अस्त पश्चिम दिशा की ओर होता है अतः उन्होने पश्चिमीय दिशा मे स्थित गुजरात की तरफ चन्द्र के जाने का उल्लेख कर चन्द्र के अस्त होने की सूचना दी—'चाँद गयो गुजरात'। चन्द्र के अस्त होने पर हिरणी (मृग-नक्षत्र) के उदित होने की जानकारी बालिकाओ के प्रकृति-ज्ञान की सूचक है किन्तु यही उनकी कल्पना सजग हो उठती है—

'चांद गयो गुजरात, हिरणी उगेगी !
हिरणी का बड़ा-बड़ा दांत, छोरयां डरपेंगा....'

आसमान मे उदित होने वाली हिरणी के बड़े-बड़े दांत भी है, जिनको देख कर लड़कियां डर जावेगी। भूत और डाकन के बड़े-बड़े दातो की भयप्रद कहानियो में इस डर की भावभूमि के अंकुर है। इसके साथ ही गीत में भय का वातावरण उत्पन्न करना भी गायिकाओ का ध्येय है। लड़कियाँ यदि रात्रि को अधिक देर से घर जाती है तो वहाँ माँ की फटकार का भय बना हुआ है अतः कन्याएं अपनी संजा-सहेली को माता की मार-फटकार का भय बता कर उसे शीघ्र ही घर पर पहुँच जाने का आग्रह करती हैं—

'संजा ! तू त्हारा घर जा, त्हारी मा मारेगा,
कूटेगा ! चाँद गयो..........................'

और रात्रि का अधिक समय हो जाने की सूचना 'चांद गयो गुजरात की पंक्ति से प्रकट कर एक दूसरे भय का कारण उपस्थित करती है कि

चन्द्रास्त हो गया है और हिरणी के उदित होने के पहिले ही घर चली जाओ, नही तो उसके बड़े दांतों को देखकर सब लड़कियां डर जावेंगी।

बालकों की कल्पना के उभार के लिये कुछ प्रसंग होता है, घटनाएं होती हैं, किन्तु कुछ कल्पनाएं बेसिर-पैर की होती है जहां प्रसंग-शृंखला आदि का कोई व्यवस्थित क्रम नही रहता। असम्बद्ध कल्पनाएं एक साथ पिरोदी जाती है। पाठशाला मे विद्यारम्भ के लिये जब बालक जाता है तो अन्य बालक सरस्वती-वन्दना के एक क्रीड़ागीत के द्वारा उसका स्वागत करके अपने में सम्मिलित कर लेते है। गीत मे सरस्वती माता का नाम भर आया है और बाद की पंक्तियो मे अनेक कल्पनात्मक एवं कौतुकभरे दृश्यों का चित्रण मिलता है--

'सरसत सरसत तू जगबेणी, हमसे लटकावे ऐणी।
बिद्या मांगे ऊबी बाट, जो विद्या के घर लई जाय।
माय-बाप को हुओ सवाल, अक्के नाखी, छक्के नाखी।
कित्ते लाडू खायगी? एकगुणी कम साठ।
नानो सो नायकड़ो। तुरक तुरक चाल।
नानी नानी सोटी—विद्या म्हारी मोटी--
सोटी लागे छमछम, विद्या आवे धमधम।
नानो सो नायकड़ो, हत्ती पर से पड़ी गयो।

बालिकाओं की अपेक्षा बालकों के गीतो में बाह्य जगत का वर्णन रहता है। मालवी बालकों के इन क्रीडागीतो एवं ब्रज बुन्देलखण्ड के बालकों के 'टेसू' के गीतों की भावनाओ का आधार एक ही है। वहां तर्क और कार्य कारण के लिये कोई स्थान नही होता। किन्तु भावनाओं के इन बिखरे अणुओं मे नैतिकता से प्रेरित एक अन्तर्निहित अप्रकट उद्देश्य अवश्य रहता है जिसमें असद् प्रवृत्तियों के प्रति रोष एवं घृणा की

भावना रहती है। यह संस्कार एवं वातावरण का परिणाम है। बालिकाओ के गीतों की भी यही भावभूमि है। यदि हम इन गीतों के मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार करते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बालकों की कल्पना को उत्तेजित होने मे घर एवं ग्रामीण वातावरण का बहुत कुछ प्रभाव है। बालिकाएँ अपने परिवार मे मायके अथवा ससुराल में होने वाले वैमनस्यमय, कटु, एवं ईर्ष्या से पूर्ण व्यवहार एवं झगड़ों को प्रायः देखा करती है। उनका प्रभाव उनके गीतो पर भी अमिट रूप से छाया हुआ है। देवर के प्रति उग्र एवं अनिष्टपूर्ण भावनाओ के अंकुर बाल्यावस्था मे ही प्रकट होने लगते है। इस भावना की अभिव्यक्ति में कल्पना का योग देखिये——

—मेरे घर के पीछे केल का वृक्ष है, मेरा भाई उस पर चढने लगा। अरे भाई ! जरा अच्छी-सी मजबूत डाली पर चढना। मेरा देवर भी उस केल के वृक्ष पर चढ़ने लगा, देवर जी ! तुम टूटी-सी डाल पर चढना ! (प्रच्छन्न मनोभाव स्पष्ट है कि टूटी डाली पर चढ़ने से देवर नीचे–भूमि पर गिरेगा और उसकी टांग टूट जावेगी।)

—मेरा भाई केल पर से उतर रहा है··· भाई, तुम्हारे लिए भूमि पर फूल बिछे है। मेरा देवर भी केल की डाल से उतरने लगा। देवर जी, तुम्हारे लिये फूल नही, काँटे और भाटे हैं।

—मेरा भाई भोजन करने के लिये बैठा है। हे भाई, मै तुम्हें ताजा भोजन कराऊंगी। मेरा देवर भी जीमने के लिये बैठा है, उसे तो बासी रोटियों के सूखे टुकड़े ही खिलाऊँगी···।

—मेरे भाई के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है मै अपने भतोजे के लिये 'झगल्या-टोपी' ले जाऊँगी।····देवर के यहाँ लड़की हुई है····लाओ, उसे पत्थर की शिला पर दचक दें····।

एक आदर्शमय भारतीय परिवार में नारी के लिये तो भाई और देवर समान हैं। स्वयं के भाई के प्रति जितना स्नेह वाँछनीय होता है, उससे भी कहीं अधिक स्नेह अपने पति के भाई—देवर पर भी होना वाँछनीय है। किन्तु मालवी कन्याएँ देवर के प्रति अच्छी भावनाएँ नहीं रखतीं यह संजा के गीतों में स्पष्ट होजाता है। भाई के प्रति अधिक पक्षपात, ममत्व और मंगलमय कामना जितनी तीव्र है, देवर के प्रति अहित की भावना भी उतनी ही उद्दाम है, जहाँ परिवारिक जीवन में उत्पन्न कटुता और रागद्वेष की सही स्थिति सचाई के साथ अभिव्यक्त हुई है।

सल्ला और हिरणी

सल्ला या 'छल्ला' अविवाहित लड़की और विवाहित पुरुषो के द्वारा गाया जाता है। 'छल्ला' शृंगारी भावना के गीतों की प्रवृत्तियों को लेकर चलता है। 'छल्ला' की गीत-पद्धति पर विस्तृत विवेचन 'मालवी-दूहो' के अन्तर्गत किया गया है। यहाँ केवल बालकों द्वारा गेय 'छल्ला' पर विचार करना ही वाँछनीय है।

अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक सजग होने के कारण बालकों ने बड़े लोगो को 'छल्ला' गाते देखकर, स्वयं भी गाना प्रारम्भ किया किन्तु बालकों और तरुणो के 'छल्लो' मे उतना ही अन्तर है जितना कि शैशव और यौवन मे ! बालको के इन गीतो में छुकरपन, एवं असम्बद्ध-अकल्पनीय बातें कौतुक उत्पन्न करती हैं—

'सल्ला सायजादी लोंडी,' अथवा 'छल्लो बोल्यो रे'

गीत की आधारभूत पंक्तियाँ हैं जिनको 'टेक' कहते हैं और अनेक विचित्र कल्पनाओं को अस्फुट शब्दों में गूँथ कर गीत-रूप में प्रकट किया जाता है—

❀ राम खोद्‌यो कुओ रे, लछमन बाँदी पाल।
सीता आइ ने पानी भरे, हनुमान करे घमासान ।।
........छल्लो बोल्यो रे।

—राम कुआ खोदते हैं। लक्ष्मण पाल बाँधता है और सीता आकर पानी भरती है पर अचानक ही हनुमानजी आकर 'घमसान'—युद्ध करने लग जाते हैं।

❀ आम्बो चलतो लादो रे, डाल पड़ी गुजरात।
केरयाँ लागी दुआरका, खई ग्या बदरीनाथ ।।
........छल्लो बोल्यो रे।

—आम का वृक्ष चलता हुआ मिला। उसकी डाल गुजरात पहुँच गई किन्तु केरियाँ (कच्चे आम) द्वारका में और उसको बदरीनाथ आकर खा गये।

असम्वद्ध कल्पनाओं के साथ-साथ प्रत्यक्ष-जीवन की अनुभूतियो की बाल-सुलभ अभिव्यंजना भी बड़ी रोचक होती है। इसमे हास्य और कौतुक का पुट रहता है—

❀ डूँगरी पर डूँगरी रे, मियाँ पकावे दाल्।
मियाँ की जल गई दाढी रे, बीबी नौचे बाल् ।।
........छल्लो बोल्यो रे।

❀ डूँगरी पर डूँगरी रे, झाड़ू घड़ियो जाय।
बामण–बाण्या मूँजी रे, पेट लबूरता जाय ।।
........छल्ला सायजादी लौंडी।

❀ एमदया मेंमदया भाई रे, गेले चल्या जाय।
गेले मिलग्यो खोपड़ो, मूँछ मरोड़ता जाय ।।
छल्लो बोल्यो रे।

❀ एमद्या मेंमद्या दोई बैल रे, आँकड़ा की गाड़ी।
बाण्या परणवा चाल्या रे, नइँ मिली रे लाड़ी ।।
........छल्ला सायजादी लौंड़ी ।

❀ लिप्यो--चुप्यो आँगणो रे, उमें बिच्छु जाय।
मिजाजन मामी के बट्को भर्यो, बड़ी उछाला खाय ।।
........छल्लो बोल्यो रे ।

❀ लेकोड़े बाया तूम्बा रे, उज्जैन आई बेल।
घोडा छकड़ा रई गया रे, दौड गई रेल ।।
........छल्लो बोल्यो रे ।

'छल्ला' की तरह 'हिरणी' के गीत भी बड़े मनोरंजक होते है। छल्ला तो केवल लड़के ही गाते है किन्तु हिरणी लड़के और लड़कियां दोनो मिलकर गाते है। ये गोत विशेषतः बागरी–बलाई और नीची जाति की लड़कियों द्वारा भी गाये जाते है। इन गीतों को दीपावली के अवसर पर गाया जाता है। बालकों के अन्य गीतो की तरह हिरणी के गीत भी बेसिर-पैर की बातो से भरे पड़े है—

❀ हिरणी–हिरणी टुकरा–टुकरे, चाल म्हारा देस।
खाटा गऊँ की घुगरी ने, रामतली को तेल ।।
लोंडी—बोंडी कँई गावे, गावे बावन बीर।
बावन बीर अड़ गया रे, नाक में घाले तीर ।।
तीरा बीर ने फेंक्या रे, जइ पड्या आम्बाडार।
आम्बा–बाड़ी की डोकरी रे,.. काते ताणा सूत ।।
सूतासूत को भख लियो रे, भख लियो भूत ।।

❀ म्हारा घर पाछे कड़ो तूमड़ो, तोड़ बगारी भाजी जी....
अण्डो तोड्यो बण्डो तोड्यो, फिर बी नइँ सीजी भाजी जी....

आखा गाम का छाणा चोरया, फिर बी नई सीजी भाजी जी····
छोटा जेठ की टांग टोड़ीं—तो नई सीजी भाजी जी····
बड़ा बाप की मूछाँ कतरी—खद्बद् सीजी भाजी जी····

मनोविनोद के लिये प्रसंग-विधान कितना सुन्दर है। कड़वे तूमड़े की तरकारी को पकाने के लिये कितने खट् करम करने पड़े। गाँव के सभी उपलो को चुरा कर भाजी पकाने की चेष्टा में असफल होने पर बड़े जेठ की टांग और बड़े बाप की मूछो के ईंधन से तरकारी के पकाने में बालकों को मानो बड़ा आनन्द आता है। किसी की टाँग एवं किसी की मूँछे कतरने में बालको का 'खुरापाती' दिमाग सदा तत्पर ही रहता है।

डेंडक माता

जब अनावृष्टि का आतंक छा जाता है तो ग्रामो के सम्पूर्ण जीवन मे एक अनिष्ट की भीषण आशंका व्याप्त हो जाती है। वृष्टि के देवता 'इन्द्र' को मनाने का प्रयास किया जाता है। बडे लोगो के साथ बच्चे भी पानी की वर्षा के लिये याचना कर बैठते है—

डेडक माता, ड़ेंडक दे! पानी की बौछार दे,
म्हारा बीरा की आल सूखे, पाल सूखे,
गद्दो भूके, गद्दी छूके, भौं—भौं—भट्!

गाँव के लड़के-लड़कियाँ किसी बालक या बालिका के मस्तक पर टीन के पतरे, या मिट्टी के चपटे खपरेल को धर मिट्टी के एक लौंधें में नीम की छोटी डगाल (टहनी) गाड़ कर प्रत्येक द्वार पर जाकर उक्त गीत गाते हुए वर्षा का आह्वान करते है। मेढ़को का टर्राना वर्षा के आगमन का सूचक है। वर्षा-काल ही मे तो मेढ़को के प्रबल साम्राज्य में वसन्त की गायिका कोकिल का पंचम स्वर भी तो पराजित होकर न जाने कहां चला जाता है। अतः बालक मेंढ़को की माता—डेंडक माता से यह

याचना करते हैं कि वह अपने प्रभावशाली पुत्रों की सृष्टि करे उन्हें इस बात के लिये प्रेरित करे कि वे पानी की बौछार के लिये टर्राना शुरु कर दें।

भोले बच्चों को यह क्या मालूम कि वर्षा का देवता इन्द्र होता है। वे तो 'डेंडक माता' को ही सर्वस्व मानकर उससे ही याचना कर बैठते हैं। अनावृष्टि के संकट को बालक भी अच्छी तरह समझते हैं। उनके भाई का खेत सूखा जा रहा है, सरोवर की पाल भी सूखी जा रही है! ताल-तलैय्या सूख जाने के कारण घास-तृण भी उग नहीं पाता और बेचारा माधव-नन्दन! अपनी गर्दभी के साथ भूख-प्यास से तड़प-तडप कर 'भौं-भौं-चि-भौं' करता फिरता है। बालको का यह खेल उनकी अनुभूति के साथ ही प्रकृति के रहस्यो का अनजाने में कितना सम्यक् एवं यथार्थ चित्र अङ्कित करता है।

मालवी बालको की इस अनुष्ठानमय क्रीड़ा में भिन्न-भिन्न देशो एवं आदिम जातियो की परम्परा के स्वरूप को प्रचलित होते देख आश्चर्य होता है। अनावृष्टि के निवारण के लिये जो जादू-टोने एवं अन्धविश्वास से युक्त प्रथाएं हैं, उनमें बालकों के द्वारा चल-समारोह का आयोजन कर वर्षा के देवता का आह्वान किया जाता है। थिसली और मकदूनिया के यूनानी लोगों में इसी प्रकार की प्रथा विद्यमान है। बालक-बालिकाओं का एक चल-समारोह ग्राम के समीप में स्थित किसी कुए या जलाशय की ओर लेजाया जाता है। समारोह का नेतृत्व एक 'कुमारी' कन्या करती है, जिसे अन्य लड़कियाँ जल की बूँदों से अभिसिंचित करती चलती हैं। मार्ग में स्थान-स्थान पर रुक कर वर्षा के आह्वान का गीत गाती हैं। सायबेरिया की तृण-भूमि के किसान बालकों के 'डोडोला' एवं मालवी बालकों की 'डेंडक माता' एक से आयोजन हैं। भाषा भिन्न हो सकती

है किन्तु भावना एवं उसको प्रकट करने की विविध प्रथाओं का बहुत कुछ साम्य है। 'डोडोला' लड़कियों के द्वारा आयोजित होता है। इसमें लडके सम्मिलित नही होते। एक किसान कन्या के सम्पूर्ण शरीर को घास एवं फूलपत्तो से ढक दिया जाता है। इस शृंगारसज्जित कन्या को भी 'डोडोला' कहते हैं। गाँव के प्रत्येक मकान पर 'डोडोला' के साथ लडकियों का समूह जाकर उपस्थित होता है। 'डोडोला' नृत्य करती रहती है और अन्य लडकियाँ वर्षा का गीत गाती है। इस गीत को भी 'डोडोला गीत' कहते है। डोडोला गाँव के गृहस्थो के द्वार पर उस समय तक नृत्य करती रहेगी जब तक कि गृह-स्वामिनी आकर 'डोडोला' के मस्तक पर एक घड़ा पानी की बौछार न कर दे।[1]

---

1. 'The Golden Bough'-by, Frazer, Page 69–70. (Abridged edition 1922).

१३ भदावरी लोक साहित्य के कुछ आकर्षण

ग्वालियर की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर भदावर का विस्तृत क्षेत्र फैला हुआ है। भदौरिया राजपूतो की शौर्यगाथाओं को अपने आँचल में समेटने वाला यह भू-भाग जनपदीय जीवन के विभिन्न आकर्षणो से पूर्ण है। लोक-साहित्य की दृष्टि से भी भिण्ड-भदावर का अपना महत्व है। भक्ति का मानस यहाँ भी उसी अगाध श्रद्धा के साथ लहराता है, जिसकी व्यापक प्रेरणा समस्त उत्तर-भारत के जन-मानस पर छाई हुई है। कबीर, सूर, तुलसी आदि सन्तों एवं भक्तों की भावनाएं लोकगीतो में ढल गई है। इसी तरह शक्ति-पूजा के विविध रूप यहाँ देखने को मिलते है। चन्द्रसखी के गीत भी यहाँ प्रचलित है। यह बात अवश्य है कि चन्द्रसखी के गीतो का माधुर्य मालव की सीमा में अपना एक विशेष महत्व रखता है और वह जीवन की सरलता और यथार्थता के अधिक निकट है। इस क्षेत्र में चन्द्रसखी के लोकगीत सूर की कूट-क्लिष्टता एवं कृष्णचरित के गान की परम्परा से आबद्ध हैं।

चन्द्रसखी के गीतो के अतिरिक्त धार्मिक पर्वो पर गायी जाने वाली 'साखी' भी अपनी क्षेत्रगत विशेषता लिये हुए है। इन साखियों में जन-मानस की रसिकता एवं काव्य-प्रियता को सहज ही परखा जा सकता है। यदि कहा जाय कि भदावरी ग्रामीण क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय

में एक कवि का निवास है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हर व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को, युग की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने चेष्टा करता है और यही चेष्टा परम्परा की कड़ियों में बँधकर लोकगीतों का स्वरूप धारण कर लेती है। कुछ 'साखियों' को लेकर जन-साम्राज्य के हृदय को टोटलने की चेष्टा की गई है—

"बोलो भाई बम, के बोलो भाई बम भोले····।
माइ-बाप के लाड़ले, पिये कटोरन दूध।
गंगाजी की गैल में, भये छपेटा गाल ॥ १ ॥
के बोलो भाई बम··························।
गाँव सिकाटा हमु बसै, बेसुलिया के तीर।
दोऊ नदी वा मिलि गई, बाबा माधोदास ॥ ३ ॥
के बोलो भाई बम··························।
हमउ तो आये दूर तें, सुन तिहारो नाँय।
कपड़ा फाटै गाँठ के, देख चलै या देस ॥ ३ ॥
के बोलो भाई बम··························।
राधा जी के हात में, अजब फूल एक सेत।
राधा बूजै किस्न को, किस्न नाम नहि लेत ॥ ४ ॥
के बोलो भाई बम··························।
घूरे पै की रूखडी, चौरै चँकरै पात।
के हमु देखी नगर अजोद्या, के सन्तन के पास ॥ ५ ॥

ये साखियाँ किसी छन्द के बंध या तुक की कारा में न बंध कर जीवन की किसी एक घटना या अनुभूति को लेकर मुक्तक रूप में प्रकट हुई हैं। 'बोलो भाई बम········' गीत की टेक है और उसके साथ ही लयात्मक होकर निश्चित पंक्तियों में बंध कर जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के चित्र बिखर गये हैं।

भगवान शिव को गंगा कितनी प्रिय है, उसके मर्म को ग्रामीण जनता बड़ी श्रद्धा के साथ समझती है और शिवरात्रि के पावन पर्व पर शिव के मस्तक पर उन्ही के मस्तक से निसृत हुई गंगा के जल से अभिषेक करना परम पुण्यप्रदायी माना जाता है। महा-शिवरात्रि के कई दिवस पूर्व ही धार्मिक-श्रद्धालु जनता गंगाजी की यात्रा के लिये उमड़ पडती है। उक्त यात्रा में वाहन का प्रयोग सर्वथा ही वर्जित है। सभी यात्रियो को पैदल ही चलना पड़ता है। भावनोज्वल मानव की शक्ति क्या इतनी पंगु है, असमर्थ है कि वह रथ, अश्व, रेल या मोटर-कार जैसे भौतिक-स्थूल प्रसाधनों का आश्रय ले ? यंत्रासुर की माया के सामने हृदय की श्रद्धा-शक्ति कभी झुक ही नही सकती ! सब लोगो को गंगा-दर्शन के लिये पैदल ही चलना पड़ता है। फिर शिव-प्रिया, पतित-तारिणी-पाप-हारिणी गंगा के सन्मुख कोई भी सामान्य जन वाहन पर चढ़ कर जावे, यह उसकी अविनय एवं अहंमन्यता का परिचायक न होगा ? राजा-रईस एवं सम्पन्न लोग अपने-अपने वाहनो पर बैठ कर शान और वैभव का आतंक जमाते हुए, मार्ग की पदाति भक्त-जनता को धूल-धूसरित कर आगे बढ जावें तथा गरीब और असहाय जन अपनी दीन-हीन दशा पर दुःखित हों, यह कैसे सम्भव है ? धर्म-भावना और भक्ति के पावन क्षेत्र मे यह असाम्य कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? गंगा-माई के लिये तो सभी मानव समान हैं। गरीब और अमीर का भेद यहाँ स्वीकार्य नही होता। सब लोगों को पैदल ही चलना पड़ता है।

भिण्ड—भदावर के क्षेत्र से गंगा लगभग चालीस-पचास कोस दूर पड़ती है। इतनी विकट दूरी तक पैदल यात्रा करके गंगा-स्नान करना और गंगोदक लेकर महा-शिवरात्रि के दिन अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँच जाना बड़ा ही कष्ट-साध्य है क्योंकि इसी दिन के लिये तो पद—यात्रा की

जाती है ताकि गंगा का जल शिव पर चढ़ाया जा सके। इस कष्ट-साधना की अनुभूति उक्त प्रथम साखी में सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है। सम्पन्न घर में, जहाँ खाने-पीने की कोई कमी नही, कटोरे भर-भर दूध पीकर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाया। ऐसे 'माई-बाप के लाड़ले' जब पैदल ही गंगा-यात्रा का साहस कर बैठते है तब 'गंगाजी की गैल में' अत्यधिक कष्ट उठाने के कारण उनके गात्र 'छपेटा' होजाते है—पिचक जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्र की जनता के लिये नगर का आकर्षण भी कम मोहक नही होता। यातायात-साधनो से विहीन, दूर-दूर के क्षेत्र से खिचकर लोग नगर का वैभव देखने के लिये बड़े 'चाव' से आते है। किन्तु नगर मे आकर उनका विश्वास एकदम प्रवंचित हो जाता है। नगर की सम्पूर्ण विचित्रताएं, चहल-पहल, भव्य-भवन, बड़े-बड़े राजमार्ग एवं नामधारी महापुरुषो की कीर्ति-गाथाओ मे भोले-भावुक ग्रामीणजन की कौतूहल भरी जिज्ञासा कुछ क्षणो के लिये भले ही शान्त होजाय, किन्तु चित्ताकर्षण से परिपूर्ण, लुभावनी रूपसी-नगरी के विषकन्या-सदृश हलाहल-भरे आकर्षण की घातकता को समझने मे उसे देर नही लगती। वह तो नाम-गुण सुनकर बड़ी दूर से आया था। नगर मे आकर उसे मिला क्या ? गाँठ का धन लुटा कर फटे चिथड़ो मे अपने गाव जाते समय हठात् उसकी अनुभूति मुखर हो ही उठी—'देख चले या देस.....' नगर के प्रति यह कितना कठोर व्यंग है !

अन्तिम दो साखियों मे पति-पत्नी की विनोद-चातुरी का सुन्दर चित्रण हुआ है। राधा अपने हाथ में एक श्वेत-पुष्प लेकर कृष्ण से पूछ बैठती है—

'बताओ तो इस पुष्प का नाम ?'

कृष्ण के अधरों पर उस पुष्प का नाम आकर अटक जाता है। वे प्रश्न

के मर्म को समझ चुके हैं, इसलिये राधा के प्रश्न का उत्तर तत्काल न देकर सोच में पड़ जाते हैं। तो राधा के सम्मुख कृष्ण को हार माननी पड़ेगी ? नहीं, कृष्ण भी चातुरी के साथ उत्तर देते हैं—

'घूरे पै की रूखड़ो चौरे चकरे पात,
के हमुं देखी नगर अजोद्या, कै सन्तन के पास'

सन्तों के पास की तुम्बी या तूमड़ी प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र की बोली में तूमड़ी का उच्चारण 'तूमरी' होता है। राधा ने तूमड़ी की बेल से एक फूल लेकर, उसका नाम पूछने के बहाने यह चाहा कि श्रीकृष्ण अपने मुख से—'तू मरी' शब्द का उच्चारण कर दे। किसी प्रेमी या पति के मुख से अपनी अनन्यहृदया प्रियतमा के लिये इस प्रकार का अमंगल-सूचक एवं अवांछनीय शब्द कैसे उच्चरित हो सकता है। यहाँ कृष्ण और राधा के नाम तो प्रतीक मात्र हैं। गार्हस्थ्य जीवन में विनोद-चातुरी और छेड़-छाड़ का जो आकर्षण है, उसी का यह शाश्वत चित्र है।

१४ भदावरी लोकगीतों में फाग

ज्यो-ज्यो फागुन मास की पूर्णिमा निकट आती है, चन्द्रमा की कला के साथ ही जन-मानस में फाग का उल्लास बढ़ता जाता है। मालव, राजस्थान और उत्तर-भारत के प्रायः सभी ग्राम और नगरो में 'ढप्प' और 'ढोलक' की प्रेरक थाप के साथ सन्ध्या से लेकर मध्यरात्रि की नीरवता में फाग के गीत तैरते रहते हैं। जनता का हृदय वसन्त की गायिका कोकिल के मधुर-सगीत-रस को लेकर जीवन की उद्दाम मस्ती में लहराने लगता है। फाग के सभी लोकगीतो की मूल प्रेरणा प्रायः प्रेम और यौवन की मादकता को लेकर चलती है। शृंगार का अथाह सागर आन्दोलित होने लगता है और जन-सामान्य रामकृष्ण की जीवन-गाथाओं का आश्रय लेकर अपने हृदय की कुण्ठित भावनाओं को सामूहिक रूप में खुल कर प्रकट करता है।

मध्य-प्रदेश के भिण्ड-भदावरी क्षेत्र में फाग के गीत अपनी रोचकता के लिये प्रसिद्ध है। संगीत की लय-माधुरी और स्वरो के चढ़ाव-उतार एवं गाने की पद्धति के अनुसार यहां इन गीतो को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया गया है। मुझे इस क्षेत्र में अभी चार-पाँच पद्धतियों में ही 'फाग' के गीत सुनने को मिले है। गाने की पद्धति के अनुसार इन गीतो का विभाजन निम्न प्रकार से होगा—

१. ख्याल और भजन—जो 'दोबोला' हैं, वे ख्याल होते हैं। प्रत्येक पंक्ति को गाने में दुहरा दिया जाता है। भजन चोताला होता है।

२. लंगडी—गीत मानो लंगड़ा कर चलता है। 'टेक' की एक पंक्ति विभिन्न मुक्तको को बटोर कर आगे बढ़ती है।

३. तुड़वौ—गीत के छोटे-छोटे टुकडो को 'तुड़वौ' कहते है। गानेवालों के दो दल बन जाते है। एक दल जो पंक्तियाँ गाता है, दूसरा दल उसको दुहरा देता है।

४. बिलवारी—गीत ढालक-चाल की द्रुतगति के साथ बडे वेग से आगे बढता है। एक-एक शब्द मानो कण्ठ से फिसला जाता है।

५. लेद या जकड़ी—इसके गाने मे खेच लगती है। आरोह-अवरोह में कण्ठ को काफी कसरत करना पडती है। स्वरो की शृंखला मे गीत को जकड़ दिया जाता है।

ख्याल और भजन मे कृष्ण-लीला के गीतो का आधिक्य है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सूर और तुलसी के जिन मनोरम पदो मे एम० ए० तथा बी० ए० का विद्यार्थी अपना मस्तक खपाता है, यहा का सामान्य ग्रामीण बडो सरलता के साथ उन सरस पदो को अपने कोमल-कण्ठो से भक्ति और श्रद्धा के साथ आत्म-विभोर हो प्रचारित करता रहता है। इन भक्त कवियो के परम्परा-गीतो के अतिरिक्त राम और कृष्ण के चरित की अमूल्य निधियाँ इन लोकगीतो मे छिपी पडी है।

'नइ आई तेरे रहिबो'—इस गीत की पंक्ति को सुन कर एकदम मैंने यह समझ लिया था कि कोई प्रेमिका अपने प्रिय से रूठ कर कह रही है कि वह उसके यहां रहने को नही आई है। प्रेमिका की उपस्थिति से कदाचिद् प्रेमी का हृदय प्रफुल्ल हो गया होगा और उसने अपने मन की भावना प्रकट की होगी, किन्तु गीत के आगे की पंक्तियो को सुन कर मुझे स्तंभित रह जाना पड़ा—

'नइ आई तेरे रहिबे को !
सात समन्दर बहे किनारे,
जाको सेत बँधायवे को, नइ आई.......
मेघनात् सो बेटा तेरे,
वाको सीस कटायवे को, नइ आई.......
बीस भुजा दससीस असुरकी,
तोये रडापो देवे को, नइ आई.......

यह रामायण की कथा थी। सीता मे मन्दोदरी ने आग्रह-पूर्वक रावण के राजमहलो मे रहने का निमंत्रण दिया। भारतीय रामकथा की मन्दोदरी तो रावण को समझाती है और सीता को लंका मे ससम्मान बिदा करने का उपदेश भी दे देती है। परन्तु लोकगीतों की मन्दोदरी का स्वरूप 'तुलसी' और 'केशव' की मन्दोदरी से बिलकुल विपरीत है। वह सीता को अपने राज-भवन में रहने का आमंत्रण देती है, शायद वह सोचती होगी कि अशोक-वाटिका में सीता की उतनी सुरक्षा नही हो सकेगी जितनी कि स्वयं उसकी प्रत्यक्षता में ! यह भी संभव है कि सती पति-परायणा मन्दोदरी अपने पति रावण की इच्छा के विरुद्ध न जाकर सीता को फुसलाने की चेष्टा कर रही हो।

सीता मन्दोदरी के निमन्त्रण को अस्वीकार कर उसके दिये गये प्रलोभन का मुंह-तोड उत्तर देती है कि वह लंका के राज-महलों में रहने के लिये नही आई है, वरन् सात-समुद्रो की अलंघनीयता को समाप्त करने के लिये सेतु बांधने, मेघनाद का मस्तक कटवाने एवं दस सीस, बीस भुजा वाले अतुल-पराक्रमी रावण को समाप्त कर मन्दोदरी को विधवा बनाने के लिये आई है !

रामकथा के मर्मज्ञों के लिये यह एक और कल्पना बड़ी आश्चर्यमयी

होगी कि सीता लंका को अपना मायका, मन्दोदरी को माता, और रावण को अपना पिता मानती है। इस सम्बन्ध के अनुसार कुंभकर्ण काका एवं मेघनाद का भाई होना स्वाभाविक ही है—=

'लिजियो म्हाराज सियासुध—लिजियो म्हाराज'····हो ऽऽऽ
लंका मेरो मायको, मन्दोदर मेरी माय !
कुंभकरन मेरो कका लगत है, मेघनात् मेरो भाय !
रावन मेरा पिता लगत है, का को देय असराप हो ऽऽऽ
लिजियो म्हाराज················

सीता के सतीत्व का प्रभाव तो सर्वमान्य है। यदि अनाचारी असुर रावण उसे हर ले गया तो सीता ने उसे 'असराप'—श्राप क्यो नही दिया ? जब सीता ने लंका को अपना मायका और रावण को अपना पिता मान लिया तो उसके लिये यह कैसे सम्भव है कि वह श्राप देकर अपने पितृवंश को समाप्त कर दे !

इस प्रसंग पर उस पौराणिक-परम्परागत कथा को भी नही भूल सकते जिसमे सीता का जनक रावण सिद्ध होता है। अत्याचारी नर-पिशाच रावण ने ऋषियो के रक्त को 'कर' टैक्स रूप मे वसूल तो कर लिया किन्तु उसके परिणाम की भयंकरता से डर कर वह संचित रक्त एक स्वर्ण-कलश में भर कर विदेहराज की राज्य-सीमा में गड़वा दिया था। उसके कु-प्रभाव से विदेह में भयानक दुष्काल पड़ा और उसके निवारणार्थ जनकराज को स्वर्ण का हल जोतना पड़ा और रावण द्वारा संचित उसी रक्त-घट से सीता का आविर्भाव हुआ।

बौद्ध-साहित्य के 'दसरथजातक' की कथा तो और भी विचित्र है जिसमें रावण को सीता का भाई कहा गया है। इन कथाओं की धूमिल और अस्पष्ट छाया से लोकगीतों का जन-मानस भी अपरिचित नही है।

कृष्ण का जीवन चरित तो मानो फाग के गीतों का मूल आधार ही है। ढोलक की द्रुततर चाल के साथ निम्नलिखित 'लेद' या जकड़ी में भाषा और भावों का माधुर्य्य एकदम फूट पड़ता है—

'आज कहुँ बाजी हो बाँसुरिया, आज कहुँ बाजी हो मुरलिया !
बोंय बोंय बिगुल, बिगुल भये कन्ता,
नाचत बिकट, बिकट हरि लटकत,
उगत न भान, मुदित नइ सरसनु,
चले न पवन, थके नइ जलहु,
आज कहुँ बाजी हो बाँसुरिया..........!

प्रसिद्ध यूनानी-गायक आरफियस की वीणा के प्रभाव के समान ही कृष्ण की बन्शी के संगीत का स्वर्गीय-संमोहक प्रभाव है कि सूर्य और चन्द्रमा उस स्वर मोहिनी को सुन कर स्तब्ध है। सूर्य का उदय होना और चन्द्र का अस्त होना, ये दोनों ही प्राकृतिक कार्य बन्द हो गये। सदा-गति पवन का चलना भी बन्द हो गया और यमुना की लहरियां तो उस ध्वनि को सुन कर थकती भी नही।

तुडवौ और लंगडी की पद्धति मे मनमौजी प्राणियो के मन की उमंग अबाध गति से लहराती-इतराती रहती है। इसमे भक्ति और नीति के गीत तो सम्मिलित है ही, साथ ही यौवन की छेड़-छाड़ और शृंगार की उद्दामता भी कम नहीं है—

'तोरी चुनरी मे प्रेम रस बूँदां रे!
कौन रंगाय दई है चटक चुनरिया?
कौन धराय दओ रस—बूँदा रे!
ब्याहै ले दई चटक चुनरिया!
छैल धराय दओ रस—बूँदा रे!
कैसे फट गई चटक चुनरिया?

कैसे उड़ गओ बूँदा रे!
ओढ़त फट गई चटक चुनरिया!
अब गुमड़त उड़ गओ रस—बूँदा रे!

सन्तोष तो इस बात का हैं कि होली के अवसर पर गाये जाने वाले फाग के गीतों में अश्लीलता की मात्रा शनैः-शनैः कम होती जा रही है और जन-मानस युग की प्रवृत्तियों को समझने में भी काफी जागरूक है–

मिलिके चलियो रे सिपैय्या! फिरंगी राज करे........
इक्का–बग्गी बन्द कराये, मोटर दिये चलाय।
नीचे जल के अगन बोट है, उपर झाज हवाई।
मिलि के......................................
कलकित्ता से रेल चलाई, पटरी दई बिछाय।
मील–मील पै खम्ब गड़ाय दये तार सो खबर लगाय।
मिलि के......................................

१५ सन् सत्तावन की क्रांति और लोकगीतों का जनमानस

सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम की असफलता के परिणामस्वरूप ही उसे बगावत की संज्ञा दी गई और यह स्वाभाविक ही है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये किया गया घोर संघर्ष पराजय के कारण गदर अथवा विद्रोह कहा जाता है। पराजय के बाद इतनी क्षमता ही कहाँ रह पाती है कि विजेता की शक्ति एवं दमनपूर्ण हरकतों को चुनौती दी जा सके! इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी हम, ५७ की क्रान्ति के पश्चात् स्पष्ट रूप से देख सकने है। उस समय भारत का बौद्धिक मस्तिष्क तो अपनी सुख-सुविधा को सुरक्षित रखने के लिये लोभ में आकर जड़ होगया और साहित्यकार की लेखनी भी इस सम्बन्ध मे क्रान्ति के बोल न बोल सकी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व वीर सावरकर आदि एक-दो इतिहास-लेखकों को छोड़कर अधिकांश भारतीय विद्वानो ने अंग्रेजो का अनुसरण कर इस क्रान्ति को 'गदर' ही तो करार दिया था! इस मानसिक गुलामी का प्रभाव हिन्दी के परवर्ती साहित्यकारो पर भी देखा जा सकता है। सन् सत्तावन की घटना के सम्बन्ध मे हिन्दी के कवियों का मौन भी विचारणीय है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कुछ समकालीन कवि और लेखकों ने तो अंग्रेजों की ही प्रशंसा की। बिहारीसिंह नाम के एक कवि ने तो विक्टोरिया रानी को मुक्त-हृदय से आशीर्वाद भी दे डाला—

'गदर गनीम गुबार उठ्यौ, सत्तावन में सिगरे जन जानी,

मेटि प्रजा दुःख बेगि सयानी, त्यौंहि बिहारी लियो कर शासन,
जेहि ऐसो विचार असीसें सबै, चिरजीवौ सदा विक्टोरिया रानी।

यह तो स्पष्ट ही है कि उन्नीसवी सदी के साहित्यकारों ने सन् ५७ की घटना-क्रान्ति के सम्बन्ध में कुछ लिखने का साहस ही नही किया और यदि कुछ कवियों ने लिखा भी है, तो उसमें सिपाहियो को जी-भरकर कोसा गया है। किन्तु ऐसे कवियों की संख्या अति न्यून है। इस मानसिक क्लैव्य की पृष्ठभूमि का यदि विश्लेषण किया जाय, तो एक ही तथ्य हमारे सामने आता है। साहित्य अपने निम्न-स्तर पर उतर कर जब रूपसी राजसत्ता का चारण बनकर उसकी वन्दना करने लगता है, तब निर्भीक एवं क्रान्तदर्शी प्रेरणा की अपेक्षा भी नही की जा सकती। इतिहास में ऐसे बहुत कम क्षण आये है, जब सत्य के प्रकाश में आत्मलाभ की प्रवंचना से हटकर किसी लेखक ने जन-जीवन को प्रेरित किया हो; और जब कभी भी साहित्य ने अपने इस निम्न स्वरूप को छोड़कर ऊर्जस्वित रूप धारण किया, तभी क्रान्ति ने जन्म लेकर मावनता को बलवती बनाया है।

पढ़े-लिखे एवं विद्वान् लोगों की मनोभावनाओ से हटकर जब सामान्य जनता की ओर आते है, तो स्थिति एकदम ही विपरित दिखाई पड़ती है। विद्रोह के प्रति जनमानस की भावनाएं ही इतिहास के ऐसे तथ्यो को प्रस्तुत कर देती हैं, जहां हमें यह मान लेना पड़ता है कि ५७ की घटना एक साधारण विद्रोह न होकर हमारी आजादी लड़ाई का शुभारम्भ था और जनता का भावनात्मक सम्बन्ध भी था, जो अनेक रूपो में अभिव्यक्त हुआ है। लोक-भावना का यह शाश्वत स्वरूप रहा है कि उसमें, सुख-दुःख और उल्लास-वेदना का उभार खुलकर प्रगट होता है। जनता ने युग की घटनाओं के प्रति निर्भीक होकर अपने मानस की

प्रतिक्रियाएं प्रकट की हैं। सामान्य जन-मानस बाह्य स्थितियों से प्रभावित होकर भी अपनी धारणाओ को कभी नही दबाता। सन् ५७ के सम्बन्ध में भी लिखित-साहित्य की अपेक्षा लोकगीतों में जनता की भावनाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व देखने को मिल जाता है। प्रत्येक जनपद में ऐसे लोक-गीत प्राप्त होते हैं, जिनमें अंग्रेजों से जूझनेवाले वीरों के प्रति जनता ने अपने हृदय की भावनाओं का खुलकर प्रदर्शन किया है। देश के लिये मर मिटनेवाले शहीदों की स्मृति आज भी अमिट है और उल्लास के साथ लोकगीतों में उनके शौर्यपूर्ण कार्यों के प्रति अगाध श्रद्धा और सहानुभूति प्रकट की जाती है। यह सहानुभूति उस वीरत्व-व्यंक उल्लास की प्रतीक है, जहां अन्याय और अत्याचार के प्रति रोष प्रकट करने के साथ ही, इनका प्रतिकार करनेवाले वीरो का अभिनन्दन करती है और देशद्रोही कायरो की भर्त्सना भी करती है।

बुन्देलखण्ड के हरबोलो द्वारा झांसी की रानी के सम्बन्ध मे गाये जानेवाले गीतों से प्रेरणा पाकर लिखी गई कविता 'खूब लडी मर्दानी....' से तो सब परिचित है। इसी तरह राजस्थानी वीर डूंगजी की गाथा भी मालवा और राजस्थान मे प्रचलित है। डूंगजी ने नसीराबाद की छावनी पर धावा बोला था। भीख मांगने वाले 'कान गुवाल' और 'नाथ' डूंगजी एवं अंग्रेजों की लड़ाई की गाथा को गांव-गांव में जाकर गाते है। मालव में नरसिंहगढ़ के राजपुत्र चैनसिह के सम्बन्ध मे भी अनेक लोक-गीत प्राप्त होते है। चैनसिंह भोपाल के पास सीहोर की छावनी में हिम्मतखाँ एवं बहादुरखां नामक अपने दो साथियों सहित अंग्रेजों से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ था। मालवी महिलाओं ने इतिहास की इस महत्वपूर्ण घटना को लोकगीतो के अनुरूप ढालकर अधिक रसात्मक बना दिया है।

—राजा सोबालसिंग[१] का चैनसीग मुलक में राज करयो
कचेरियां बैठन्ता जी साब' बरजा—
नी हो कँवर हमारी लड़वा की बैस,[२]
भैस्या दुवन्ता भाई बोल्या—
नी हो दादा तमारी लड़वा की बैस,
पालना पे बैठन्ता माँजीबई बोल्या—
नी रे बेटा त्हारी लड़वा की बैस,
सेज्याँ सँवारता गोरी हो बोल्यो—
नी ओ आलीजा थाँकी लड़वा की बैस,
हिदरखां बिदरखाँ[३] यूं बोल्या—
एकला से पड़ ग्यो रे काम।
भाई भतीजा घरे रिया हो चैनसीग,
एकला से पड़ ग्यो रे काम,
सीस कटायो, घाट बँधायो,
मुख पे उड़े रे गुलाल !
सीवर[४] में डेरा रे डाल्या,
धड़ से करयो है जुवाब[५]....

मालव की तरह उत्तर प्रदेश के जनपदीय क्षेत्रों में भी 'सत्तावन' के सम्बन्ध में जन-मानस अधिक उल्लासपूर्ण है—

'अवध मां राना मरदाना
पहिल लड़ाई भै बक्सर माँ सेमरी के मैदाना
ऊहाँ का कूच भयो पुरवा की तबै लाट घबराना

१. सौभाग्यसिंह, २. वय (वयस) ३. हिम्मतखां, बहादुरखां, ४. सीहोर की छावनी, ५. सीस कटने पर कबन्ध भी लड़ता रहा।

शंकरपुर के बड़े लड़ैया घोड़ा चढ़ै मरदाना
× × ×
कम्पनी बिलाइत सकल बिललाना
नेक न डराना छीन लियो तोपखाना
बीरबांधे बीर-बाना बैस राना बिरम्दाना

राना बहादुर सिपाही अवध मे धूम मचाई मोरे राम रे,
लिख-लिख चिठिया लाटन भेजी आन मिलो राना भाई रे,
जवाब-सवाल लिखा राना ने हमु से न करो चतुराई रे,
जब तक प्रान रहे तन भीतर तुम कन खोद बहाई रे।

प्रस्तुत लोकगीतो मे शंकरपुर (अवध) के राणा वेणीमाधवसिह की वीरता का जीवन्त इतिहास बोल रहा है। राणा ने अंग्रेजो से जमकर मोर्चा लिया था। सन् सतावन की क्रान्ति के सम्बन्ध मे ऐसे अनेक वीरो का परिचय प्राप्त हो सकता है, जिनके सम्बन्ध मे इतिहास मौन है। इनको केवल जन-मानस ने ही लोकगीतो मे अंकित कर अमर बनाया है।

हमारे प्रकाशन

रासमाला (गुजरात का इतिहास)—भाग प्रथम
पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में — मू० १४)
मूल लेखक—अलेक्जेन्डर किन्लॉक फार्बस
अनुवादक —श्री गोपालनारायण बहुरा एम० ए०
प्राक्कथन —पुरातत्वाचार्य मुनि जिन विजय
भूमिका —डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

विचार के प्रवाह— — मू० ५)
लेखक —डॉ० देवराज उपाध्याय
भूमिका—डॉ० विश्वनाथप्रसाद

बचपन के दो दिन— — मू० ४–८०
लेखक —डॉ० देवराज उपाध्याय
भूमिका—जयप्रकाश नारायण

साहित्य तथा साहित्यकार— — मू० ५–००
लेखक —डॉ० देवराज उपाध्याय

मालवी–एक भाषा–शास्त्रीय अध्ययन— — मू० ५–००
लेखक —डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय

फाहियान की भारत यात्रा—भागचन्द्र छाजेड़ — १–००

भारत की खाद्य समस्या—भूपाल मेहता — ०–४०

आगामी प्रकाशन

आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रासकाव्य—डॉ हरीश
टॉड कृत राजस्थान—प्रथम भाग–प्रथम खण्ड
प्रधान सम्पादक—डॉ० रघुवीरसिंह
रासमाला—भाग द्वितीय